विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

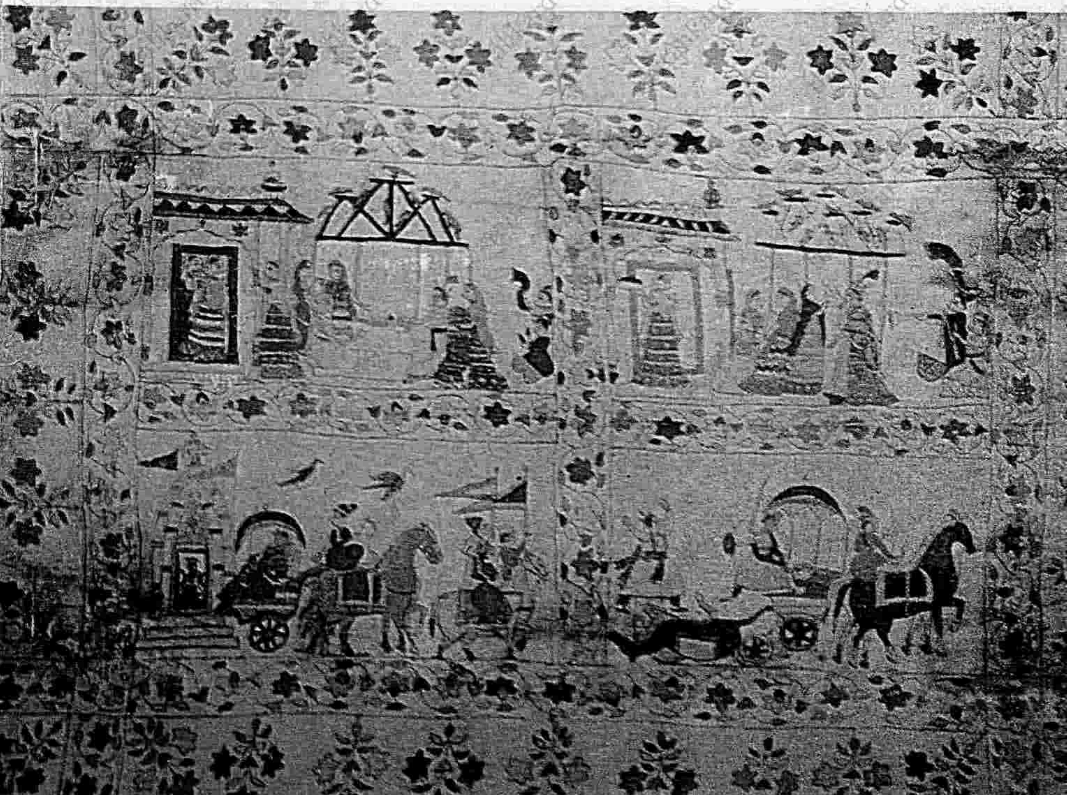

मुख पृष्ठ: चम्बा रूमाल (19वीं शती)

ऊपर का चित्र: अमरनाथ गुफा प्रवेश तैल चित्र: Sags Brunner E.F.

आवरण के चारों पृष्ठों की कला कृतियां, राज्य संग्रहालय, शिमला में हैं। विवरण पृष्ठ 96 पर दिया गया है। सभी पारदर्शियां: हाकम शर्मा

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष - 6, अंक - 32, मई - जून, 1990

मुख्य संपादक
सी०आर०बी०ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय
5 संपादकीय

साक्षात्कार
7 केदारनाथ सिंह से दुर्गाप्रसाद गुप्ता की बातचीत

लेख
17 सृजनशिल्पी और उसका परिवेश : पीयूष सिंह दईया

पाहुन
20 मिसपाल (कहानी) : मोहन राकेश

देशांतर
14 इवलिन (कहानी) : जेम्स जॉयस

कहानी
44 मकान : रामदरश मिश्र
49 सूरज के पंख : राजीव ई० सिंह
55 लाल जोड़ा : निर्मल छाया

कविता
58 दो कविताएं : दिविक रमेश
62 तीन कविताएं : श्रीवत्स
66 चार कविताएं : प्रमोद कौंसवाल
69 दो कविताएं : कविता सूद

समीक्षा
71 जैसे अवध का आदमी पहचाना जाता है : ओम निश्चल
77 रूसी काव्य चिंतन का सृजनात्मक दस्तावेज : महेश आलोक
83 सामाजिक सरोकार की कहानियां : डॉ० प्रत्यूष गुलेरी

लोक संस्कृति
86 कांगड़ा जनपद के लोक नाट्य : डॉ० गौतम व्यथित

कला
96 आवरण की कला कृतियां : डॉ० बलवीर चौहान

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं। सं०

विपुल सामग्री का महत्त्व

डॉ० किशोर काबरा, अहमदाबाद

'विपाशा' ने द्वैमासिक पत्रिकाओं में एक अलग ही पहचान छोड़ी है। अभिव्यक्ति के धरातल पर सभी शैलीगत एवं कथ्यगत आयामों को समेटकर आंचलिकता से लेकर देशांतर तक की यात्रा कराने की सामर्थ्य बहुत कम पत्रिकाओं में होती है। रेणु जी की 'आज़ाद परिंदे' कहानी में आज की व्यवस्था एवं विवशता पर करारा व्यंग्य है। कविताएं सार्थक हैं। समीक्षाएं अपेक्षाकृत कमज़ोर हैं।

बीरबल शर्मा, मण्डी (हि० प्र०)

'विपाशा' के बारे में आपको तो शायद असंख्य पत्र आते ही होंगे। कुछ को आप 'सविनय निवेदन है' पाठकीय स्तंभ में भी देते हैं। इस पत्रिका में काफी कुछ बढ़िया है तथा मैं कहूंगा कि यह हिमाचल की विभागीय पत्रिकाओं में श्रेष्ठ भी है। मगर इसके आलोचक भी कम नहीं, कहीं इस पर कविताओं की भरमार, कहीं बाहरी लेखकों को अधिमान, तो कहीं कुछ नियमित खास लेखकों को ही स्थान जैसी आलोचनाएं तो होती ही हैं। इसका देरी से छपना भी एक वास्तविकता रही है। अगर मुझे 'विपाशा' की आलोचना करने को कहा जाए तो मैं इसमें हिमाचल के सांस्कृतिक लेखों व छाया-चित्रों की कमी की बात लिखूंगा तथा देरी की भी। मगर बधाई हो—पिछले कुछ अंकों से 30वें अंक तक यह भ्रम भी टूट गया।

हिमाचली संस्कृति से ओत-प्रोत लेखों को भी अगर कुछ और स्थान मिले तो पुनः बधाई भेजेंगे।

चंद्रसेन माहेश्वरी, गढ़ जोगेंद्रनगर (हि० प्र०)

विपाशा अंक 29 के 'पाहुन' में हिमालय आंचल के परिवेश का पुराना चित्र सजीव हुआ। श्रीनिवास जोशी जी की कहानी वास्तविक हालात को उधेड़ती, मन को छू जाती है। डॉ० विद्याचंद ठाकुर के लेख 'मंडी जनपद के लोक नाट्यों' में मंडी के लोक नाटकों की समग्र रूप में जानकारी के साथ-साथ अन्य जिलों के लोक नाटकों का भी दिग्दर्शन मिलता है। यह लोक संस्कृति में रुचि रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी लेख है।

रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु' 732, सदर बाजार, बरेली

'विपाशा' से मेरा परिचय विश्व कविता अंक से हुआ। सभी विधाओं में स्तरीय सामग्री देकर आपने पत्रिका को निखारा है। सौ पृष्ठ की नोट बुक भी दो रुपये में उपलब्ध नहीं है। ऐसे में 'विपाशा' जैसी पत्रिका का महत्व विपुल सामग्री देने के कारण और भी बढ़ गया है। हमारे लोकगीत, लोक कथाएं आदि एक-दूसरे को जोड़ें, यही जुड़ाव असली जुड़ाव है। आप हर अंक में एक-दो लोकगीत, लोक-कथा देकर कृतार्थ करें। अंक 28 में 'इन दिनों' (केशव), मेरे लिए (सतीश धर), छावनी (दीनू कश्यप), इंटरव्यू के कैंडीडेट (प्रकाश पंत), क्या हिंदी किलष्ट भाषा है? (डॉ० सत्यपाल शर्मा) इन रचनाओं ने विशेष रूप से प्रभावित किया। अंक 30 में डॉ० मनोहर लाल का लेख 'हम्मीर हठ चित्रावली तथा काव्य परंपरा' शोध दृष्टि से परिपूर्ण है।

परसाई और नागार्जुन के गद्य की पड़ताल की गई है। 'पाश' की कविता बहुत गहरे तक कुरेदती है। जिया सिद्दीकी की कविता 'रेल' में क्षरित होते संबंधों की व्यथा व्यंजित है। यह बहुत दमदार कविता है। अंक 31 में किताबें (सफदर हाशमी), शराब घर में बूढ़ा (श्रीनिवास श्रीकांत), जाते हुए... (श्रीवत्स), मार्मिक कविताएं हैं। 'तुम आना जैसे आते हैं दुःख खिलखिलाते हुए' (श्रीवत्स) इन पंक्तियों में दुःख की सकारात्मकता मन को बांधती है। कांगड़े की छोरियां (अज्ञेय) में लोक धुन को सफलतापूर्वक पिरोया गया है। प्रत्येक अंक में विभिन्न कलाकृतियां भी पाठकों तक पहुंच रही हैं। यह स्तुत्य कार्य है। 'हमीर हठ चित्र-सीरीज़ कथा' को मेरा बड़ा बेटा पहले ही निकालकर अपनी फाइल में सजा लेता है। कहीं मेरे साथी पत्रिका से न निकाल लें, इस डर से।

लता कौंडिल, सरपाज, कुल्लू

अंक 28 में तारा बहन की कहानी 'संकट' में संकट केवल किसी एकमात्र बहन का ही नहीं अपितु समस्त नारी समाज का संकट है। बहन तारा ने सहज व सबल बुद्धि द्वारा सामाजिक कुरीतियों का जो पर्दाफाश किया है वह कोई साधारण कार्य नहीं है। डॉ० सत्यपाल जी का लेख 'क्या हिंदी कलिष्ट भाषा है?' भी पढ़ा।

आर० एल० कौंडिल, परवाणु, हि० प्र०

विपाशा अंक 27 प्राप्त किया जिसमें फणीश्वरनाथ जी का 'मेरा बचपन' अत्यंत प्रशंसनीय था। साहित्य की लिखित सामग्री एवं रचना से पाठकों का सहमत होना लेखक एवं संपादकगण के भरसक प्रयास व तीव्र बुद्धि का परिचायक है। वैसे शिमला से प्रकाशित होने वाली 'पहाड़ी' व 'हिंदी' पत्रिकाओं में यह विशेष कमी खटकती थी कि इन पत्रिकाओं में संस्मरण, उपन्यास और नाटक के अंश नाममात्र पाठकों के समक्ष रखे जाते थे। विपाशा पत्रिका का सदस्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। विपाशा के अंक में लेखक व संपादक जी का मुख्य केन्द्र बिन्दु संस्मरण, उपन्यास, रिर्पोताज आदि को मान्यता देना है। फणीश्वरनाथ जी का लेख 'राष्ट्र निर्माण में लेखक का सहयोग' ज्ञानवर्धक होने के साथ-साथ लेखकों एवं पाठकों के लिए उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ है। डॉ० सत्यपाल के संस्मरण, केशव का उपन्यास अंश 'अपने-अपने ताप में' सराहनीय हैं। अंक 28 में 'पूर्व का एक महान अन्वेशक' लेख व तारा बहन की 'संकट' कहानी अच्छे लगे।

संपादकीय

समकालीन कविता और चित्रों में राग

यह अंक मिलने तक विपाशा के नियमित पाठक अवश्य उदास हुए होंगे। इस बात का अनुमान हर रोज मिलने वाले ऐसे अनेक पत्रों से लगाया जा सकता है जिनमें पत्रिका के प्रति एक तरह की सद् इच्छा रहती है और यथा-सम्भव नया अंक उपलब्ध करने की बेसब्री भी। पाठकों की भावनाओं और अपेक्षाओं के सामने निश्चित रूप से हम समय-समय पर छोटे पड़ते रहे हैं। लेकिन जैसा आप लोग जानते ही हैं कि यह पत्रिका कोई खबरें लेकर तो आपके पास आती नहीं कि बासी लगने लगे। जैसी-कैसी साहित्यिक सामग्री के लगभग सौ पृष्ठ इस अंक में फिर आपके सामने प्रस्तुत हैं।

इस अंक के प्रारम्भ में सुप्रतिष्ठित कवि केदारनाथ सिंह से दुर्गाप्रसाद गुप्ता बातचीत दी गई है। हिन्दी साहित्य के लिए पिछले वर्ष के साहित्य अकादमी पुरस्कार से केदार जी को सम्मानित किया गया है। यह सम्मान उन्हें 'अकाल में सारस' कविता संग्रह पर प्रदान किया गया। लगभग बीस वर्षों के अन्तराल के बाद एक दशक पूर्व जब केदार जी का बहुचर्चित दूसरा कविता संग्रह 'ज़मीन पक रही है' जब प्रकाशित हुआ तो समकालीन हिन्दी कविता ही नहीं अपितु समूची भारतीय कविता के परिप्रेक्ष्य में इसकी व्यापक चर्चा हुई। इसके बाद केदार जी के 'यहां से देखो' और 'अकाल में सारस' दो और संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यों तो केदार जी 1960 में प्रकाशित पहले कविता संग्रह 'अभी बिल्कुल अभी' तथा 'तीसरा सप्तक' से ही एक प्रखर कवि के रूप में स्थापित हो गए थे लेकिन 'जमीन पक रही है' के प्रकाशन के बाद इन्होंने जो ख्याति अर्जित की और सृजन के स्तर पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए जिस कदर नैरंतर्य बनाए रखा इससे अब उन्हें प्रमुख समकालीन भारतीय कवियों में गिना जाता है। भाषा के प्रति अत्यन्त संवेदनशील कवि केदारनाथ सिंह की जीवन और कविता पर समान पकड़ है और समकालीन यथार्थ की गहरी समझ के रहते इनकी कविता अपनी अलग पहचान रखती है। इस साक्षात्कार में जहां केदार जी के कृतित्व और उनकी रचना-प्रक्रिया को लेकर खुलकर बात हो सकी है वहीं समकालीन भारतीय कविता के विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश पड़ा है।

'पाहुन' के अन्तर्गत मोहन राकेश की बहुचर्चित कहानी 'मिसपाल' दी गई है। हिमाचल के कुल्लू आदि क्षेत्रों की पृष्ठभूमि से युक्त यह कहानी मोहन राकेश की प्रतिनिधि कहानियों से एक है। मोहन राकेश का भी कुछ अन्य शीर्ष रचनाकारों की भ्रांति हिमाचल से गहरा लगाव रहा। अपने जीवन के कुछ वर्ष उन्होंने अध्यापन के सिलसिले में शिमला में भी गुज़ारे हैं और कुल्लू-मनाली तथा डलहौजी आदि स्थानों में वे अक्सर आते-जाते रहे। हिमाचल की पृष्ठभूमि पर आधारित उनकी कुछ और भी कहानियाँ हैं।

'देशान्तर' में जेम्स जॉयस की कहानी और अन्य नियमित कविता, कहानी व समीक्षा जैसी सामग्री के साथ 'लोक नाट्य' शृंखला के अन्तर्गत इस बार डॉ० गौतम व्यथित ने कांगड़ा क्षेत्र की लोक-नाट्य परम्परा पर प्रकाश डाला है। डा०व्यथित लोकनाट्य के क्षेत्र में संयोजन, निष्पादन और समीक्षा के स्तर पर लम्बे समय से कार्य कर रहे हैं इसलिए अनुभव और विश्वसनीयता की दृष्टि से उनका यह लेख अलग महत्त्व रखता है।

'प्रवेश' में नई प्रतिमाओं को स्थान दिया जाता है। इस अंक में निर्मल छाया की कहानी 'लाल जोड़ा' दी गई है, जिसमें रचनाकार की संभावनाएं स्पष्ट हैं।

इस अंक के आवरण पृष्ठों को कला की दृष्टि से अधिक सार्थक बनाने की कोशिश रही है। राज्य संग्रहालय में रखी गई प्रमुख कलाकृतियों की पारदर्शियां हैं, जिनका परिचय भी अन्त में दिया गया है।

'उपहार चित्र' में हमारे पाठक विशेष रुचि लेते रहे हैं। यह जानकर प्रसन्नता होती है कि अनेक पाठक इन चित्रों का संग्रह कर इन्हें अपने पास सुरक्षित रख रहे हैं। उषा-अनिरुद्ध चित्र-सीरीज़ और हमीरहठ सीरीज़ के बाद इस अंक से 'रंगमाला' के चित्र शुरू किए गए हैं। इन लघु-चित्रों में कलाकारों ने शास्त्रीय संगीत के रागों को बाँधा है। अन्ततः हम वहीं पहुंचने की कोशिश में हैं, जहाँ कविता, चित्र और संगीत एक हो जाते हैं। आशा है पहाड़ी लघु-चित्र शैली में रचे-साधे गए इन रागों का भी अवश्य स्वागत होगा।

साक्षात्कार

भारतीय कविता को संश्लिष्ट कविता होना चाहिए

[] केदारनाथ सिंह से दुर्गा प्रसाद गुप्ता की बातचीत

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : इस वर्ष का साहित्य अकादमी सम्मान आपको मिला। वर्तमान समय में इस तरह के सम्मानों और पुरस्कारों की क्या सार्थकता है ?

केदारनाथ सिंह : पुरस्कारों का एक लंबा इतिहास है और सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया में लंबे समय से पुरस्कार एक खास तरह की भूमिका अदा करते रहे हैं और पुरस्कारों की सार्थकता को लेकर बहस भी होती रही है। इसके पक्ष और विपक्ष—दोनों में मत दिए जा सकते हैं। लेकिन पुरस्कार एक सामाजिक स्वीकृति है। मैं इसी रूप में उसकी सार्थकता मान सकता हूं। यद्यपि मैं यह नहीं मानता कि पुरस्कार किसी भी तरह से साहित्यिक गुणवत्ता का निर्धारक या निर्णायक होता है। लेकिन यदि एक रचनाकार लंबे समय तक अपनी रचना में संघर्षरत रहते हुए जब किसी तटस्थ संस्थान द्वारा पुरस्कृत होता है तो उसे एक प्रकार का आत्म-संतोष तो होता ही है। इसका उसके कृतित्व पर दो तरह का प्रभाव पड़ सकता है। यदि वह अपने पूरे विकास के प्रति बहुत चेतन नहीं है तो आत्मतुष्ट भी हो सकता है। परंतु उसकी आत्मा-लोचन-शक्ति यदि पूरी तरह से बनी हुई है तो उसके बाद भी उसके विकास की प्रक्रिया उतनी ही तीव्रता से चलती रह सकती है—ऐसा मेरा मानना है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : अपनी काव्य-यात्रा के दौरान आए उतार-चढ़ाव और विभिन्न पड़ावों के संबंध में कुछ बताएंगे ?

केदारनाथ सिंह : काव्य-यात्रा मेरी खासी लम्बी है, कहना चाहिए, कोई 35 वर्ष से ज्यादा हो गए मुझे लिखते हुए। और इस बीच हिंदी साहित्य के इतिहास में भी अनेक परि-वर्तन घटित हुए हैं—अनेक आंदोलन आए और गए। मैं इन सारे आंदोलनों के बीच कभी इनके हाशिए पर और कभी इनके बीच से गुजरते हुए, कभी इनको चुपचाप दूर से देखते हुए और कभी इनसे कुछ लेते और अपने में जोड़ते हुए आगे बढ़ता रहा हूं। मेरी यात्रा अब भी यात्रा ही है, किसी भी अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंच गया हूं, ऐसा मैं बिलकुल नहीं मानता।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : इस काव्य-यात्रा के लंबे परिदृश्य में आपने हिंदी कविता में स्थान व पहचान ही नहीं बनाई है बल्कि आपने युवा पीढ़ी को प्रभावित भी किया है और शमशेर जी ने कहा भी तो था कि आप युवकों के प्रिय कवि हैं। इसके पीछे कौन-सा लगाव था ?

केदारनाथ सिंह : मैं समझता हूं कि मुझे सबसे बड़ा पुरस्कार जो मिला है वह मेरे युवा कवि मित्रों की ओर से मिला है। यदि कुछ युवा कवि ऐसे हैं और बहुत सारे पत्र जो मुझे मिलते हैं उनसे अंदाज लगता है कि शायद हैं, जो किन्हीं कारणों से मुझे अपनी संवेदना और

सोच के निकट पाते हैं तो यह मेरे लिए किसी भी पुरस्कार से बड़ी चीज है। मैं ठीक-ठीक इसकी व्याख्या तो नहीं कर सकता कि इसका कारण क्या हो सकता है। लेकिन एक बात मैं जरूर चाहता हूं और करता भी हूं कि युवा रचनाशीलता की मानसिकता में जो परिवर्तन घटित होते हुए दिखाई पड़ते हैं उसे चुपचाप अपने ढंग से पहचानता हूं, स्वीकृति देता हूं और यदि अवसर आए तो उस पहचान को स्वयं अपने सामने रखकर कई बार अपनी बहुत-सी मान्यताओं को बदलने और लचीला बनाने की कोशिश भी करता रहता हूं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : सम्मान प्राप्त होने के पश्चात् आपने कहा कि यह समकालीन कविता का सम्मान है जबकि आप सन् 1950 के आसपास से ही कविताएं लिखते रहे हैं। फिर आप अपने को समकालीन कविता तक ही क्यों सीमित रखना चाहते हैं ?

केदारनाथ सिंह : 'समकालीन कविता' शब्द बहुत व्यापक है। हिंदी में यह बहुत ढीले-ढाले अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, इसलिए जब मैंने 'समकालीन' कहा था तो उसका अर्थ केवल 1980-89 या 90 की कविता से ही नहीं था बल्कि मोटे तौर पर स्वाधीनता के बाद जो कविता हिंदी में विकसित हुई, उससे था।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपके प्रथम कविता संग्रह के प्रकाशन के बाद आलोचकों ने रचना-प्रक्रिया के प्रति आपके एप्रोच को कीट्स की 'थ्योरी ऑफ निगेटिव कैपेबिलिटी' तथा प्रसिद्ध बिंबवादी कवि बोदलेयर के निकट देखा था और अब कुछ लोग आपको हिंदी का रिल्के कह-कर उनके निकट देख रहे हैं—आप क्या महसूस करते हैं ?

केदारनाथ सिंह : ये दोनों मेरे लिए सूचनाएं हैं, क्योंकि मैं नहीं जानता कि मुझे किसने रिल्के कहा है। रिल्के अगर किसी ने कहा होगा तो एक कारण शायद यह हो सकता है कि दो-तीन लेख मैंने हिंदी में लिखे थे और उसकी कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया था। रिल्के मेरा प्रिय कवि रहा है। लेकिन रिल्के शिखर की वो ऊंचाई है, जिसका सिर्फ मैं सपना देख सकता हूं। अपनी सारी प्रतिबद्धता क बावजूद रिल्के मुझे अपनी अनेक कविताओं में अच्छा लगता है। रचना प्रक्रिया के बारे में मैं एक और इंटरव्यू में कह चुका हूं और यहां उसे दुहरा रहा हूं कि आज रचना प्रक्रिया की बात आधुनिक आलोचना का लगभग एक फैशन बन गई है। मैं नहीं समझ पाता कि कोई अपनी रचना प्रक्रिया के अंधेरे में झांककर ठीक-ठीक समझ पाता है और कैसे उन टूटे-बिखरे सूत्रों को पकड़ पाता है, व जोड़ पाता है या दावे के साथ कह पाता है कि वह जो कह रहा है, वह सही है। मुझे बार-बार लगता है कि रचना प्रक्रिया पर बात करना एक अंधे कुंए में झांकने की तरह है। केवल जो 'फिनिश्ड प्रोडक्ट' सामने है—जो कृति है जो कि रच कर और छन कर बाहर आई है, उसी की बात कर सकते हैं और उसके बिना पर ही उसके अतीत की बात भी की जा सकती है। उससे अलग उसके अतीत की बात करना और मनोलोक में झांककर उसके धागों को पकड़ना एक मुश्किल काम होगा और इसके लिए मैं नहीं जानता कि मनोविज्ञान और मनोदर्शन-शास्त्र में कोई औज़ार अब तक खोजा गया है या नहीं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : रचना प्रक्रिया के ही अंतर्गत 'तीसरा सप्तक' में आपने स्वीकार किया था कि 'कविता में सबसे अधिक ध्यान देता हूं बिंब विधान पर।' बिंबविधान का संबंध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप में भी। पर क्या बाद में इसका अनुकरण करने वाले अधिकांश कवियों की कविताएं बिंबधर्मी नहीं होती गईं—जिसके फल-स्वरूप उनकी कविताओं से वास्तविक सामाजिक जीवन ओझल होता गया और आलोचना भी

बिंबों की खोज तक ही सीमित होकर रह गई ?

केदारनाथ सिंह : इस प्रश्न के दो पक्ष हैं। पहला तो यह कि मैंने जो वक्तव्य दिया था —'तीसरा सप्तक' में वह दरअसल एक विशेष स्थिति में दिया गया था—जब मैं स्वयं अपना शोध-कार्य बिंब को लेकर कर रहा था। उस अवधि में बिंब का सवाल मेरे दिमाग पर काफी हद तक हावी था। इसलिए बिंब को अतिरिक्त महत्व देते हुए मैंने वह बात कही थी जो एक अर्द्ध परिपक्व मन का वक्तव्य था। बिंब का महत्त्व मैं कविता में आज भी स्वीकार करता हूँ और आज भी कविता का बहुत सारा ताना-बाना बिंबों से ही बुना जाता है। कविता यदि सम्मूर्तन है तो वह बिंब के बिना संभव नहीं है। इसलिए बिंब तो कविता में किसी न किसी रूप में रहता ही है। कविता में आरंभ से ही बिंब की एक भूमिका उसके स्वरूप-निर्धारण में किसी न किसी रूप में रही है। पर यह जरूर है कि बिंब कविता का सब कुछ नहीं है और मैंने अपने उस वक्तव्य में एक बात तो स्पष्ट रूप से कही थी कि बिंब केवल 'रूप' से संबंध नहीं रखता, वह स्वयं विषय-वस्तु से भी उतना ही जुड़ा हुआ है। इसलिए बिंब को इन दोनों स्तरों पर देखा जाना चाहिए। कविता बिंब बहुल नहीं होती—बिंबमय या बिंबात्मक होती है और जहां बिंबों का समुच्चय मात्र होगा कविता में, वहां कविता कमज़ोर होगी और उसका मूल आशय गायब हो जाएगा। मेरी शुरू की कविताओं में जहां बिंब की अधिकता जरूर है, लेकिन बाद में मैं क्रमशः बिंब से मुक्त होते जाने की ओर अग्रसर हुआ हूं। बिंब मेरी कविता में आज भी है लेकिन वही सब कुछ नहीं है। मैं मानता हूं कि वह केवल एक उपादान है कविता का, अनेक दूसरे उपादानों के साथ-साथ। इसलिए बिंब का अनुपातिक उपयोग कविता में होना चाहिए, यह मैं मानता हूं। और यह अनुपात जब गड़बड़ होता है तभी कविता कमज़ोर होती है और बिंब बोझिल लगने लगती है। आपके प्रश्न के दूसरे हिस्से का मेरा उत्तर यह है कि बाद में जिन कवियों में बिंबमोह दिखाई पड़ता है, उस सबका दोषी, जाहिर है मैं नहीं हो सकता। क्योंकि बाद में चलकर मेरी अपनी कोशिश बिंब से एक बहुत आवश्यक संबंध-मात्र बनाए रखने की रही है। बल्कि बहुत-सी कविताएं मैंने बिल्कुल बिंब मुक्त होकर भी लिखी हैं। इसलिए मैं तो कविता में अनेक स्तरों पर रचना की सार्थकता की जो पड़ताल करता हूं, बिंब केवल उनमें से एक है। इस संबंध में मैं केवल इतना कह सकता हूं कि बिंब छोड़ा नहीं जाना चाहिए, लेकिन बिंबमोह छोड़ा जाना चाहिए।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आज की अधिकांश जनवादी और प्रगतिशील कविताओं में 'कविता का समाज' तो दिखाई देता है लेकिन उसका सौंदर्य गायब रहता है। आप इन दोनों का समन्वय कैसे कर पाते हैं ?

केदारनाथ सिंह : मैं यह कोशिश करता रहा हूं कि दोनों के साथ अपना रिश्ता साध सकूं। किस हद तक वह रिश्ता सधा है, यह अलग से पड़ताल का विषय है और वह मेरा काम नहीं है। मैं केवल इतना जानता हूं कि एक रचनाकार की पूरी जिम्मेवारी के साथ मैं कविता को सबसे पहले कविता के रूप में देखता हूं और यह कि समाज और यथार्थ और वह सब कुछ जो जीवन और जगत् में है, कविता में आना चाहिए और कविता की अपनी शर्तों को न भूल जाऊं। मेरा खयाल है कि एक रचनाकार को कविता के अपने मोर्चे पर खड़े होकर वहीं से अपनी लड़ाई लड़नी चाहिए।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : हिंदी के महत्त्वपूर्ण आलोचक परमानंद श्रीवास्तव का मानना है कि

आपकी कविताएं समय में देर तक टिकने वाली कविताएं हैं। कविता के विभिन्न आंदोलन और मत-वाद आते-जाते रहते हैं लेकिन आपकी कविता हर दौर में प्रासंगिक बनी रहती है और नया अर्थ प्राप्त करती है। आपकी कविता के हमेशा समकालीन बने रहने की वजह क्या है ?

केदारनाथ सिंह : क्या उत्तर दूं, मैं नहीं जानता हूं सिवाय इसके कि मैं यह मानता हूं कि कविता निरा बयान नहीं है और चूंकि वह निरा मेरा बयान नहीं है, इसलिए वह एक ऐसी दुनिया बुनती है जिसमें उसका अपना समय भी धड़कता है और आगे-पीछे का समय भी। शायद इस दिशा में थोड़ा प्रयत्नशील मैं रहा हूं। इसलिए मेरी कविता में आप पाएंगे कि उसका अर्थ जो भी ध्वनित होता है वह एक अजब-सी गूंज लिए होता है। यह गूंज केवल लय और संगीत की गूंज नहीं है। बल्कि मेरी कोशिश होती है कि कविता की पूरी बनावट के भीतर से एक विशेष प्रकार की अर्थमयी झंकृति निरंतर पैदा होती रहे। इसमें कहां तक सफल हो पाता हूं, यह मैं नहीं जानता।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपके कविता संग्रह 'अकाल में सारस' पर युवा कवि विनोद दास ने अपनी समीक्षा में लिखा है कि 'आपकी काव्ययात्रा दुनिया में प्रसन्न जीवन और संदर आत्मा की खोज की यात्रा है और इस खोज में आप काफी हद तक कारगर भी हुए हैं, पर होता यह है कि यथार्थ की भूमि तो टूटती नहीं, अलबत्ता इस प्रक्रिया में आपके काव्य-औजार कच्चे लोहे से बने फावड़े के सदृश्य मुड़ जाते हैं...।'...उनका मानना है कि आपका भावबोध और मिज़ाज मूलत: रोमानी है। पर न तो वह निर्मल के रोमान की तरह है और न सर्वेश्वर के क्रांतिकारी रोमान की तरह ? तो यह फिर किस तरह का रोमान है ?

केदारनाथ सिंह : पता नहीं, मैं नहीं जानता कि वह किस रोमान की बात कर रहे हैं। वैसे रोमान अपने आप में कोई बहुत निगेटिव शब्द नहीं है हालांकि हिंदी में उसकी ध्वनि ऐसी ही निकलती है। लेकिन व्यापक अर्थ में रोमांस, रोमांटिक या रोमांटिसिज्म जैसे शब्दों के अनेक आयाम हैं। रोमांटिसिज्म पैदा ही होता है, एक विशेष प्रकार के विद्रोह से, जिसमें कई बार क्रांतिकारी चेतना भी होती है। जहां तक जीवन में छिपे हुए सौंदर्य की खोज का सवाल है, मेरी कविता में किसी हद तक यह दिखाई पड़ेगा। मैं नहीं मानता कि जो सुंदर है उसे सुंदर की तरह नहीं देखा जाना चाहिए, और खासकर तब जब मानव-विरोधी शक्तियां मनुष्य की संवेदना को भोथरी बनाने के लिए उस पर लगातार प्रहार कर रही हैं। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी हो जाता है कि इस संवेदना को निरंतर एक तरह की सान पर चढ़ाया जाता रहे, जहां उसमें एक जीवन, एक ताज़गी बराबर बनी रहे। यह मेरी संवेदना की अपनी बनावट की ज़रूरत भी हो सकती है। ये स्वीकार करूं कि मैं दोस्तोयवस्की के उस कथन से अपने आपको काफी हद तक सहमत पाता हूं, बल्कि उस कथन के आगे कई बार नतमस्तक भी होता हूं कि "ब्यूटी कैन सेव द वर्ल्ड।"

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपको गांव से शहर आए हुए इतने दिन हो गए, फिर भी आपकी काव्य-संवेदना गांव के इर्दगिर्द ही घूमती है—जबकि कवि जिस परिवेश में रहता है, उसका उसके ऊपर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। आपकी कविता में गांव तो उपस्थित है, पर शहर अनुपस्थित-सा है। इसकी क्या वजह है ? और वह कौन-सी चीज़ है, जो आपको बार-बार गांव की ओर लौटने के लिए विवश करती है ?

केदारनाथ सिंह : वह गांव है और अपनी पूरी संपन्नता और अपने पूरे दारिद्रय के साथ गांव ही है। गांव गरीब भी है, लेकिन गांव विलक्षण ढंग से संपन्न भी है। तो गांव का यह जो एक विराट चरित्र है, वह मुझे खींचता है। मैं गांव का हूं और गांव से अब भी जुड़ा हुआ हूं। मेरा मानना है और बहुत बलाघात के साथ मानना है कि भारत की कविता या जिसे हम कहें भारतीय कविता, केवल शहर की कविता नहीं हो सकती। जिस तरह का हमारा समाज है उसके अनुसार भारत की कविता को एक संश्लिष्ट कविता होना चाहिए। हुआ यह कि पिछले दिनों कविता में नगर का मोह बढ़ा था, हो सकता है कि मेरे यहां उसकी थोड़ी बहुत प्रतिक्रिया भी काम कर रही हो। लेकिन ऐसा नहीं है कि मेरे यहां शहर नहीं है। शहर के प्रति एक अलग दृष्टिकोण हो सकता है, पर शहर है, और दरअसल क्या है कि मेरे यहां एक व्यक्ति है, जो शहर में है और शहर में रहकर अपने गांव को देखता है। यह जो संदर्भ है, वह पूरी उस कविता को एक नया आयाम देता है। असल में परोक्ष रूप से मेरी गांव-संबंधी कविताओं में मेरा शहर मौजूद रहता है। अगर कुरेद कर देखा जाए तो मेरी शहर-संबंधी कविताओं में भी मेरे गंवईपन की झलक कई बार दीख जाएगी।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपकी कविता में भाषा की सजगता अंतर्निहित है फिर भी अलग से आपको भाषा पर टिप्पणी करने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है? क्या अतिरिक्त बल देने के लिए? जैसे—तुम अपनी बात/अपनी भाषा की सारी ताकत के साथ कह सकते हो/और कहने के बाद भी इसी शहर में/जिंदा रह सकते हो, या और, भाषा जो मैं बोलना चाहता हूं/मेरी जिह्वा पर नहीं बल्कि दांतों के बीच की जगहों में/सटी हुई है?

केदारनाथ सिंह : यह तो एक तरह का कौशल है, जिसका इस्तेमाल कई बार कवि करते हैं। पर एक बहुत बड़ा समुदाय है जो भाषा होने के बावजूद गूंगा है, बोल नहीं पाता है। भाषा भी कितना काम देती है आज के समाज में? कई बार हम अपनी सारी भाषा की अर्जित क्षमता के बावजूद पाते हैं कि जो सबसे महत्वपूर्ण बात हमें कहनी थी, वही नहीं कह पाए। भाषा-संबंधी प्रयोग संप्रेषण की प्रक्रिया का बड़ा ही जटिल स्वरूप है, यह कई बार परेशान करता है आदमी को, और मेरा खयाल है कि यह आधुनिक मनुष्य को ज्यादा ही परेशान करता है। सच्चाई यह है कि लगातार मीडिया के प्रहारों और राजनीतिक मंचों द्वारा हमारे समय में भाषा का भयानक रूप से अवमूल्यन हुआ है और इससे एक कवि का काम मुश्किल भी हुआ है। दरअसल, जब मैं कविता में भाषा पर जब जोर देता हूं तो इसी संकट की ओर इशारा करना चाहता हूं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : छठे और सातवें दशक की कविता की लोकप्रियता का दायरा साहित्यिक और अकादमिक जगत् तक ही सीमित नहीं था। बल्कि गैरसाहित्यिक हिंदी पाठक वर्ग भी उसके प्रति आकर्षित था—जबकि आठवें दशक की कविता की लोकप्रियता मात्र साहित्यिक समाज में ही है—फिर भी इसे कविता की वापसी क्यों कहा गया?

केदारनाथ सिंह : कविता की वापसी वाली बात से मैं सहमत नहीं हूं। वैसे भी यह बात बहुत दूर तक नहीं चली। कविता कहीं नहीं गई थी इसलिए वापस होने का सवाल ही नहीं है। कविता चली जाती या चली जाएगी यह सोचना ही गलत है। कविता रहती है और कविता लगभग पत्थर पर उगने वाली घास की तरह होती है जो पत्थर को तोड़कर भी उग आती है, इसलिए वह रहेगी ही। कविता समाप्त हो गई थी और फिर लौट कर आ गई, ऐसा

नहीं है। आज की कविता का दायरा कितना बड़ा है और कहां तक पहुंच सकता है, इसकी पड़ताल करने के लिए आवश्यक तथ्य मेरे पास नहीं है। लेकिन एक बात मैं जरूर कह सकता हूं और अपने अनुभव से कह सकता हूं कि एक रचनाकार के रूप में मुझे जो यदा-कदा पत्र मिला करते हैं, उनके लिखने वालों के संदर्भ को ध्यान में रखकर बात करूं तो कई ऐसे पत्र लेखक होते हैं, जो ठेठ गांव के होते हैं। मेरी अपनी लंबी कविता 'बाघ' पर मुझे एक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक की चिट्ठी मिली, तो जितनी खुशी हुई उतनी बहुत कम पत्रों को पाकर होती है। इससे मैं यह अनुमान लगा सकता हूं कि कविता और आज की कविता भी किसी हद तक गांव-देहात के उस समाज तक भी पहुंच पा रही है। पहुंच गई है पूरी तरह से, यह तो मैं नहीं कहूंगा, लेकिन पहुंचने की कोशिश कर रही है। और आज के माहौल में यह भी कम नहीं है।

दुर्गा प्रसाद गुप्ता : पुराने कवियों में आप किन कवियों का प्रभाव अपने ऊपर मानते हैं और अपनी पीढ़ी के किन कवियों को आप अपने करीब देखते हैं ?

केदारनाथ सिंह : केवल इस प्रश्न के पहले भाग के संबंध में अपने विचार व्यक्त करूंगा। पहले के कवियों में मैंने निराला से बहुत सीखा है। निराला मेरी पसंद के सबसे बड़ आधुनिक कवि हैं और उसके बाद के जो कवि हैं उनमें से अलग-अलग कवियों को अलग-अलग समय में पढ़ता रहा हूं। मैं बार-बार इसको कह चुका हूं और फिर दोहरा रहा हूं कि 'त्रिलोचन' से मैंने बहुत सीखा है। वही मेरे काव्य-गुरू जैसे रहे हैं। और यदि उनका दिशानिर्देश अपने प्रारंभिक दौर में न मिला होता तो मैं नहीं जानता कि कविता का कौन-सा रास्ता; मैं तलाश पाता अपने लिए। बहरहाल, उनका ऋण तो मैं लगातार स्वीकार करता रहा हूं। शमशेर की कविताएं मुझे अच्छी लगती रही हैं और कई तरह से अच्छी लगती रही हैं। मुक्तिबोध का एक स्वरूप मुझे बेहद आकृष्ट करता है, हालांकि मुक्तिबोध जिस तरह के कवि हैं, मेरी संवेदना उससे काफी भिन्न प्रकार की है। लेकिन मुक्तिबोध का जो काव्य-संदर्भ है, जिस भूमि से वह कविता फूटती है, वह भूमि मुझे लगातार आकृष्ट करती रही है और वह भूमि ठेठ महानगरीय या कहना चाहिए कि सिर्फ शहरी भूमि नहीं थी। एक अजीब कस्बाई चरित्र है मुक्तिबोध की कविता का और मुक्तिबोध के पूरे लेखन का। वह जो कस्बाई चरित्र है मुक्तिबोध की कविता का और उनके लेखन का और उसके साथ जो बहुत गहरा अटैचमेंट है उसके कवि-मानस का, वह मुझे बेहद महत्त्वपूर्ण लगता रहा है, पूरी समकालीन कविता के विकास के संदर्भ में। और वह मुझे अर्थपूर्ण लगता है, इसलिए आकृष्ट भी करता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : किन युवा कवियों में आपको संभावना नजर आती है ?

केदारनाथ सिंह : बात यह है कि नाम लेने से, नाम लेने वाले की कठिनाई थोड़ी बढ़ती है। पर यह जरूर है कि मुझे कई कवि अच्छे लगते हैं और मैं उन लोगों में हूं जो कविता के भविष्य को लेकर निराश कभी नहीं होते। मुझे लग रहा है कि इधर महत्त्वपूर्ण काम हिन्दी कविता में हो रहे हैं और नये हस्ताक्षरों द्वारा हो रहे हैं। पिछले दिनों मंगलेश की कुछ कविताएं, जो इधर उन्होंने लिखी हैं—मैंने सुनीं और मुझे अच्छी लगीं, एक हद तक उन कविताओं ने मुझे आश्वस्त किया। फिर इसके साथ राजेश जोशी, अरुण कमल जैसे कवि हैं, जिनसे मैं लगातार उम्मीद करता हूं और उनकी कविताएं मेरी इस उम्मीद को पुख्ता भी करती रही हैं। और फिर एकदम युवा कवि जो उभरकर आए हैं, उनमें देवीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताएं मुझे काफी अच्छी लगी हैं और मैं आशा करता हूं कि उनका अगला विकास ऐसा होगा जिसे दिलचस्पी से देखा

जाएगा। इसी प्रकार कुछ और कवियों की चर्चा भी की जा सकती है लेकिन मैं जरूरी नहीं समझता कि इस सूची को बहुत लंबा किया जाए। केवल मैं इतना कहूंगा कि एकदम युवा पीढ़ी जो इधर उभरकर आई है, और जिनकी कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में जहां-तहां मुझे देखने को मिलती रही हैं, उनसे मुझे हिन्दी कविता के भविष्य को लेकर गहरी आश्वस्ति का बोध होता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : क्या आप हिन्दी आलोचना से संतुष्ट हैं?

केदारनाथ सिंह : रचनाकार और आलोचना की बड़ी पुरानी लड़ाई है। और हित इसी में होता है कि एक रचनाकार आलोचना के बारे में चुप ही रहे। पर मैं यह मानता हूं कि नई कविता के बाद जो काव्य आया है, वह एक आलोच्य के रूप में आलोचकों के सामने अब भी मौजूद है, उसके बरक्स उसको जांचती परखती हुई जो महत्त्वपूर्ण आलोचना उभरकर आनी चाहिए थी, मुझे उसकी अब भी प्रतीक्षा है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : कई बार देखा जाता है कि विचारधारा के स्तर पर जिन लेखकों के पास विचारधारा होती है या विचारधारा के स्तर पर जो अधिक स्पष्ट होते हैं, वे अच्छा साहित्य नहीं दे पाते हैं और कुछ ऐसे लेखक जिनके पास विचारधारा नहीं होती या विचारधारा के स्तर पर स्पष्ट नहीं होते, वे अच्छा साहित्य दे जाते हैं। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि साहित्य और विचारधारा का कोई नित्य संबंध नहीं होता?

केदारनाथ सिंह : यह एक जटिल प्रश्न है, विचारधारा, विचार, विचारदृष्टि, जीवन-दृष्टि, दर्शन—ये अनेक शब्द चलते हैं। कवि के पास अपना विचार होना चाहिए और जीवन जगत् के बारे में उसका विचार जितना ही गहरा और पुख्ता होगा, उसकी रचना उतनी ही मजबूत होगी, इसमें मुझे कोई संशय नहीं। परन्तु विचारधारा एक अलग चीज है। और विचारधारा के साथ दूसरी बहुत सारी चीज़ें जुड़ी होती हैं यानी कई बार उसके संगठन भी जुड़े होते हैं। दल भी जुड़े होते हैं और एक विशेष प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य भी जुड़े होते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि इनके साथ जुड़ने मात्र से रचना निरस्त हो जाती है। कई बार इन सारे जुड़ावों के बीच से रचना अपना रास्ता खोज लेती है और उसे खोजना चाहिए भी। मैं मानता हूं कि बहुत कुछ कवि के अपने व्यक्तित्व के स्वरूप पर उसकी निजी बनावट पर, यह निर्भर करता है कि वह विचारधारा के साथ कैसा संबंध साधता है। यदि वह विचारधारा को अपने भीतर इस तरह रच-बस जाने दे कि वह उसकी संवेदना को बाधित न करे बल्कि उसकी रचना को मुक्त रूप से अपना आकार ग्रहण करने दे, तो शायद किसी हद तक वह एक संतुलन की खोज कर सकता है और महत्त्वपूर्ण रचना कर सकता है। लेकिन बड़ी चुनौती जो रचनाकार के लिए है, वह यह कि यह संतुलन पाया कैसे जाए। बहुत से लेखक इसी में चूक जाते हैं। जो इसे पा लेते हैं, वही बड़े रचनाकार हो पाते हैं, जैसे नेरूदा या ब्रेख्त या दूसरे कई नाम भी लिए जा सकते हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : चिंतन के क्षेत्र में बहुत सारी विचारधाराएं हैं, उनमें से आप किससे प्रभावित हैं?

केदारनाथ सिंह : मार्क्सवाद का ज़िक्र सबसे पहले करना चाहूंगा। अपनी सोच का जो एक खास ढांचा है, स्वरूप है, उसके अनुरूप दिखाई पड़नेवाला जीवनदर्शन, अब तक समग्र रूप में कोई और नहीं दिखाई पड़ा मुझे। भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन कई दृष्टियों से मुझे आकृष्ट

करता रहा है। हालांकि बौद्धदर्शन ने मेरे ऊपर कोई प्रभाव डाला हो ऐसा मैं नहीं मानता। लेकिन आकृष्ट करता है। इसी तरह से भारतीय चिंतकों में पिछले दिनों कई बार विवेकानन्द की कृतियों से होकर मुझे गुजरना पड़ा और उनके कुछ चिंतन सूत्रों को देखकर मैं चकित रह जाता हूं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एकदम इतने उदार और इतने क्रांतिकारी विचार, वह भी एक धार्मिक चिंतक के मनोलोक में कैसे उभर सके, यह बात मुझे कई बार चकित करती है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : काफी लम्बे अरसे से हिन्दी, उर्दू और पंजाबी आदि भाषाओं के लेखक साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार लिखते रहे हैं। यहां तक कि आपने भी 'सन् '47 को याद करते हुए' साम्प्रदायिकता के खिलाफ सार्थक कविता लिखी थी। लेकिन साम्प्रदायिकता घटने के बजाए बढ़ रही है, तो क्या इससे यह समझा जाए कि लेखन आम आदमी के जीवन से कटकर बेअसर हो चुका है?

केदारनाथ सिंह : साहित्य का जो पूरा प्रभाव है समाज पर, वह बेअसर है यह तो मैं नहीं कहूंगा। लेकिन उसका प्रभाव काफी हद तक कम अवश्य होता गया है। कितना प्रभावित करता है किसी का लेखन पूरे समाज को या उस व्यक्ति को जो पूरे भावावेश में हथियार लेकर सड़क पर निकल पड़ता है—वह भी अपने भाई से लड़ने के लिए...एक बात मैं ज़रूर मानता हूं कि इस संवेदनशील मोर्चे पर लेखक को जितना जागरूक रहना चाहिए, उतना वह है नहीं। एक विचित्र ढंग की चुपचाप बन जाने वाली मान्यता हमारे लेखक समुदाय में पिछले दिनों बनी रही है। बीच-बीच में कुछ युवा लेखक उसको तोड़ते भी हैं पर कुल मिलाकर वह व्यापक रूप से बनी रही है। जो साम्प्रदायिकता समाज में है, वह जैसे कोई एक ऐसी वास्तविकता है हमारे समाज की, जिसको लेकर कुछ नहीं किया जा सकता। वह है, उसे रहना है। यह प्रवृत्ति बढ़ी है, इससे टकराने और जूझने की प्रवृत्ति लेखक समुदाय के भीतर कम हुई है, जो तकलीफदेह है। पिछले दिनों साम्प्रदायिक समस्याओं को लेकर लेखकों में एक नई जागरुकता जरूर आई है। कुछ आन्दोलन हुए हैं, कुछ लिखा भी गया है, गोष्ठियां हुई हैं। इन सारी बातों को बहुत ही 'पोजिटिव डेवलपमेंट' मैं मानता हूं। पर कुल मिलाकर व्यापक रूप से हम पिछले 20-25 वर्षों में लिखे गए साहित्य को देखें और उसकी पड़ताल करें तो शायद साम्प्रदायिकता की समस्या पर बहुत कम लिखा गया है। कुछ सार्थक लेखन हुआ है लेकिन कुल मिलाकर वह इतना नहीं है कि पूरी तरह से हमारी जहनियत को बदलने में सक्षम हो।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : मुझे तो ऐसा लगता है कि यह एक तरह का सांस्कृतिक संकट है, या...। आपको क्या लगता है?

केदारनाथ सिंह : सिर्फ सांस्कृतिक संकट नहीं है। इसके बहुत सारे कारण हैं और आर्थिक कारण भी खोजे जा सकते हैं। हमारी जो पूरी सामाजिक संरचना है उसके भीतर भी इसके सूत्र खोजे जा सकते हैं। और जाहिर है कि इसको बढ़ावा देने में राजनीति की भूमिका भी बहुत बड़ी है; बल्कि शायद सबसे बड़ी है। उसको देखा जाए तो कुछ दलों व पार्टियों में एक वोट बैंक बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जिसके चलते भी वे कुछ ऐसे नारे या नुस्खे समाज के सामने रखते रहे हैं जिससे धार्मिक विद्वेष घटने के बजाय बढ़ता ही गया है, पिछले चुनाव में हम उसका नंगा नाच देख चुके हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आजादी के इतने सालों बाद भी हिन्दी को उसका स्थान नहीं

मिला। हिन्दी थोपे जाने पर गुहार तो मचाई जाती है पर अंग्रेज़ी के थोपे जाने के खिलाफ कोई नहीं बोलता? इस भाषा-नीति के पीछे कौन-सी राजनीति काम कर रही है?

केदारनाथ सिंह : दरअसल, भाषा नीति के बारे में एक बात मुझे हमेशा लगती है कि हम हिन्दी की बात में थोड़ी शक्ति तभी पैदा कर सकेंगे, जब हम सिर्फ हिन्दी की बात न करें—हम भारतीय भाषाओं की बात करें। अंग्रेज़ी से अकेले हिन्दी नहीं लड़ेगी, अंग्रेज़ी से सारी भारतीय भाषाएं मिलकर लड़ेंगी। यह अवश्य है कि उन भाषाओं में हिन्दी पहली भाषा मान ली गई है और यह हिन्दी की अपनी व्यापकता के कारण सम्भव हुआ है। इसलिए हिन्दी की लड़ाई को थोड़ा और व्यापक बनाने की ज़रूरत है। यानी उस लड़ाई को भारतीय भाषाओं की लड़ाई माना जाना चाहिए, सिर्फ हिन्दी की लड़ाई नहीं। हम मिलकर तो अंग्रेज़ी को अपदस्थ कर सकते हैं लेकिन अकेले हिन्दी अपदस्थ करेगी, यह बहुत दिनों तक एक सुखद कल्पना बनकर रह जाए तो रह जाए। मुझे नहीं लगता कि निकट भविष्य में इसका कोई सीधा समाधान हमारे समाज में दिखाई पड़ता है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : मैं वही कह रहा हूं कि 15 भाषाओं वाले इस देश में अब तक न तो राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसका उचित स्थान मिला है न ही भारतीय भाषाओं को ही? आपकी समझ से ऐसी कौन-सी भाषा नहीं हो सकती है, जिससे सभी भारतीय भाषाओं को अपना हक और सम्मान मिल सके?

केदारनाथ सिंह : एक तो यह कि पूरा दृष्टिकोण बदला जाए। भाषा का सवाल उठाएं तो केवल हिन्दी का सवाल न उठाएं बल्कि भारतीय भाषाओं का सवाल उठाएं। इससे अन्य भाषा-भाषियों का विश्वास हमें प्राप्त होगा जो बड़ा ज़रूरी है। क्योंकि उसके बिना हम वह लड़ाई लड़ नहीं सकते। दूसरी बात यह कि जो भाषाई अल्पसंख्यक हैं, उनके भीतर विश्वास पैदा करना हिन्दी वालों का पहला कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को पूरा करने में अक्सर हम चूकते हैं और कुछ अतिरिक्त उत्साहियों के कारण चूकते रहे हैं। उधर से सावधान रहने की ज़रूरत है। राष्ट्रभाषा वाले सवाल को भी मैं थोड़ा भिन्न रूप में देखता हूं। भारत की सारी भाषाएं राष्ट्र भाषाएं हैं। हिन्दी ही सिर्फ राष्ट्रभाषा है, यह मानना भी एक खंडित सत्य होगा। संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी का एक अलग महत्त्व है और शेष भाषाओं से भिन्न उसकी स्थिति है। लेकिन जहां तक राष्ट्रभाषा का सवाल है, यदि हम यह मान लें कि सिर्फ हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो ध्वनि यह निकलती है, बाकी राष्ट्रभाषाएं नहीं हैं—इस राष्ट्र की भाषा ही नहीं है। यह अर्थ ध्वनित हो—इस प्रयास में हमें विरत होना चाहिए। इसलिए राष्ट्रभाषा तो सारी भाषाएं हैं। संपर्क भाषा हिन्दी है और इसी रूप में हिन्दी को मान्यता मिली है।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : यह कहा जा रहा है कि एक ही शताब्दी में मार्क्सवाद ने अपना आदि और अन्त दोनों देख लिया है। पूर्वी यूरोप में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसको देखते हुए आपको क्या लगता है?

केदारनाथ सिंह : यह मार्क्सवाद का अन्त नहीं है, इस बात को लेकर मुझे कोई भ्रम नहीं है। मेरी निश्चित मान्यता है कि इस संघर्ष के भीतर से होकर मार्क्सवाद अपना नया स्वरूप अर्जित करेगा। जैसे मैंने कहा कि मैं इसे मार्क्सवाद का अन्त नहीं मानता बल्कि मार्क्सवाद के स्वास्थ्य के लिए एक आवश्यक शल्य चिकित्सा की तरह इसे देखता हूं। पिछले अनेक वर्षों से मार्क्सवाद का राज्य-सत्ता के रूप में जिस तरह से रूपांतरण होता रहा है उसमें अनेक खामियां

थीं, इसे आज व्यापक रूप से स्वीकार किया जा रहा है। केवल पूर्वी यूरोप के देशों में ही नहीं बल्कि स्वयं सोवियत रूस में भी, और उनसे लड़ना जरूरी था। गोर्वाचेव या दूसरे उदारवादी नेता यही काम कर रहे हैं। साहित्य की दुनिया में यह लड़ाई काफी पहले शुरू हो गई थी और मुझे लगता है कि यह सारा बदलाव बेहतर कला-संभावनाओं को जन्म देगा।

दुर्गाप्रसाद गुप्ता : आपने काफी महत्त्वपूर्ण लेखन किया है। परंतु यदि यह पूछा जाए कि उनमें से कौन-सी कृति आपको अधिक प्रिय है तो क्या उत्तर देंगे ?

केदारनाथ सिंह : इसका कोई उत्तर नहीं है मेरे पास। यदि कोई उत्तर देना जरूरी ही है तो मैं कहूंगा कि वह जो अभी लिखी ही नहीं गई।

सृजन शिल्पी और उसका परिवेश

□ पीयूष सिंह दईया

परिवेश के सन्दर्भ में लेखक को या इसके विपरीत कहूं कि लेखक के सन्दर्भ में परिवेश को कई भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा, महसूसा और समझा जा सकता है। चूंकि मैं स्वयं सृजन कर्ता हूं इसलिए एक लेखक के नाते यह समस्या मेरे लिए भी है। चूंकि मैं एक लेखक हूं और सृजन करता हूं इसलिए मुझे 'अनुभव' की आवश्यता होती है। यहां अनुभव से तात्पर्य ऐन्द्रिक संवेदन से नहीं है बल्कि अनुभव का तात्पर्य स्मृतियों के अतीत से लेकर यथार्थ की मानवीय चेतना का समय से संपृक्त होना है।

हमारे समय की स्थितियां निरन्तर परिवर्तनशील हैं अतः यह स्पष्ट होता है कि हमारा परिवेश लगातार बदलता है और उसके साथ ही साथ हमारे सृजित होते हुए विचार अपनी रचना के सन्दर्भ में मूल्यों के रूप की तरह बदलते हैं जिससे हमारा रचनात्मक संघर्ष परिवेश के सहारे उभर कर आता है। अब चूंकि हम अपने परिवेश को 'शब्द-शिल्पी' लेखक के साथ जुड़ा हुआ मानते हैं तो यह प्रश्न सहसा ही हमारे मस्तिष्क में कौंधना चाहिए बल्कि कौंधता है, कि यदि परिवेश बदलते हैं तो क्या हमारी सृजित होती हुई रचना इस संदर्भ में नहीं बदलती या बदलती है ? यदि हम एक नज़र से देखें तो जहां यह प्रश्न तर्कसंगत जान पड़ता है वहीं यह प्रश्न यह भी कहलाता है कि हमारे 'सृजित मूल्य' भी बदलते हैं। अतः जहां हम परिवेश के होने का बोध मानते हैं वहीं काल के आयाम का वर्तमान से जुड़ा हुआ होना भी मानते हैं अतः इतना स्पष्ट हो जाता है कि परिवेश रचनाकार से जुड़ता हुआ अन्तःस्थ के बिना बहिरस्थ नहीं हो सकता है।

अज्ञेय जी कहते हैं—"परिवेश मेरे लिए देशकाल का सतत परिवर्तनशील सम्बन्ध है—बल्कि उस सम्बन्ध का भी वह रूप है जो मेरी चेतना को छूता है। क्योंकि निस्संदेह ऐसा भी बहुत कुछ हो रहा होगा—हो रहा है—जो मेरी चेतना से परे है उसे मैं अपना परिवेश कहने का दम कैसे भरूं ?" (आलवाल : पृष्ठ 17)

जहां लेखक यह कहता है कि उसका परिवेश उतना ही है जितना उसकी चेतना की आंखें उसे देख सकती हैं वहीं इनका तात्पर्य यह भी है कि यथार्थ की तरह परिवेश भी दिया गया होता है क्योंकि तभी तो हम उससे अपनी चेतना का रास्ता चुनते हैं। ताकि हम उसे चुनकर अपने को उसके द्वारा स्वीकार कर लें। अतः हम अपनी परिस्थिति सम्प्रेश्य बनाना चाहते हैं। परिवेश का क्या अर्थ है, जब तक कि परिवेश के बोध का कुछ अर्थ हम न समझें ? परिवेश की पहचान क्या है, जब तक कि सृजनकर्ता की कोई पहचान हमें न हो ? और लेखक की परिवेश के

धरातल पर क्या कसौटी है ? क्या परिवेश का भी सीमित दायरा होता है, या फिर उसका विस्तार भी संभव है ? इत्यादि अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्क में गूंज उठते हैं, जब हम हमारे विषय के बारे में विचार करते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए अज्ञेय जी आग कहते हैं—"जब जहां वह (परिवेश) मेरी चेतना को छुएगा, चाहे उसके बढ़ते हुए दवाब के कारण, चाहे मेरी चेतना की ग्रहण शीलता के विकास के कारण, तब और वहां वह मेरा परिवेश हो जाएगा।" अतः जहां तक हमारी चेतना जाती है वहीं तक हमारा परिवेश है क्योंकि ऐसे तो हमारे विश्व, ब्रह्मांड के आस-पास लाखों-करोड़ों और ऐसे विश्व, ब्रह्मांड बिखरे पड़े हैं। अतः यह आवश्यक है कि हमें अपनी समस्या पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि परिवेश की परिधि कहां तक जाती है ? और फिर रचनाकार का सम्बन्ध कहां और किस हद तक परिलक्षित होता है ? जो कि यहां हमने स्पष्ट किया है।

रचनाकार का संघर्ष कोई सीधा और सरल संघर्ष नहीं है। हम सभी यह जानते हैं कि परिवेश का रूप सदैव ही संतुलित रहा है, जिससे रचनाकार की स्थिति, स्वयं रचना की स्थिति भी संतुलित रही है। इस अर्थ में रचनाकार का अभूतपूर्व दायित्व रहता है, और उसका हर कर्म सारे समाज और सारे संसार को बदल देता है। जिसके लिए यह 'चेतना', संवेदना और भाव रचना द्वारा उत्तरदायी होते हैं। अतः हम परिवेश के द्वारा स्वयं की 'Importance' को पहचानते हैं और उसी से संघर्ष के कारण हमारा परिवेश बदलता रहता है, जिसमें अपने आत्मा के छाया-पक्ष की चेतना अपनी सृजित होती हुई रचना के संदर्भ में अपनी पहचान कराती है। ताकि उस क्षण से गुज़रता हुआ सृजनकर्ता अपने सृजन के लिए आत्म-छाया से साक्षात्कार कर लेता है।

काल के साथ हमारा विचित्र सम्बन्ध है। यह भी एक दृष्टि मानी जाती है कि वर्तमान हमारे लिए यथार्थ की व्यवस्था करता है और यथार्थ से हमारा परिवेश अन्वेषित होता है। प्रकारान्तर से हम यह मानते आए हैं कि देशकाल की परिधि का लगातार विस्तार होता जा रहा है। विज्ञान के अनुसार दुनिया छोटी होती जा रही है पर एक लेखक की दृष्टि में अज्ञेय जी के मतानुसार लेखक की दुनिया निरन्तर बड़ी होती जा रही है। क्योंकि हर लेखक दुनिया को अपनी समझ से समझ कर थोड़ा और बड़ा करके अपने परवर्तियों को दे जाता है और यह क्रम निरन्तर चल रहा है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि एक परिवेश अस्ति-भवति का है; एक नाम रूप का है। ये दोनों ही हमसे जुड़े हुए होते हुए भी अलग-अलग हैं। क्योंकि ये बाह्य हैं आन्तरिक नहीं। हां केवल मौन में—प्रत्यभिज्ञा में—दोनों एक हो सकते हैं और जहां दोनों एक हो जाते हैं वहीं हमारा सही और संप्रेषणीय परिवेश रचना और रचनाकार के संदर्भ में मुखरित हो जाता है।

परिवेश की समस्या मनुष्य से जुड़ी है और मनुष्य की रचना अंततः सृजन से जुड़ी हुई है अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक को अपने परिवेश को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए ताकि हम भिन्न-भिन्न तरीकों से ईंटों तख्तों से, अपने लिए एक निभृत समाधि चुन लें। जिससे कि हमारा अधूरापन परिवेश की स्थितिशीलता का सतत चलनशील रूप बन जाए। क्योंकि हमारे सभी सम्बन्ध गतिशील हैं और यहीं रचना का एक गहरा मानवीय अर्थ अपने अस्तित्व की शक्ति के रूप में उभर कर आता है। सबकी प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं है। अज्ञेय के अनुसार इस संकटग्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है। अतः प्रत्येक काल का परिवेश अपने स्वयं का सत्य होता है।

परिवेश के आवश्यक उपकरणों में हमारे समस्त मानवीय सम्बन्ध, हमारी सांस्कृतिक परम्परा, हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध आदि आते हैं। ये सभी घटक मानव कर्म द्वारा प्रदत्त हैं और मानव कर्म को ही प्रभावित करते हैं तथा कालान्तर में बदलते हुए मूल्यों के साथ यथार्थित होते रहते हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि यदि हम परिवेश द्वारा किसी ऐसे मौलिक परिवर्तन की देहरी पर खड़े हैं, तो वह परिवर्तन कौन-सी दिशा लेगा, और उसके सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य क्या कहता है? और किस हद तक उसका रचनाकार, रचना और परिवेश से सम्बन्ध परिलक्षित होता है। इनके अंतर्सम्बन्धों को परिलक्षित करने के लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि रचनाकार परिवेश के अधीन नहीं है और सापेक्ष रूप में स्वायत्त भी होता है। जिससे रचनाकार रचना के संदर्भ में अपने परिवेश को मूल्यों के रूप में उभारता है जो कि एक लेखकीय संकट के रूप में उभरता है।

परिवेश की मौलिकता इस बात में पूर्ण है कि वह रचनाकार से सम्बन्धित होती हुई अन्ततः रचना से जुड़ी है और सर्जक की नियति बनती हुई अपनी गूढ़ता को प्रकट करती है। इसी गूढ़ता को रचनाकार अपने शब्दों में बांध लेता है और परिवेश का एक अध्याय समाप्त होकर नया अध्याय प्रारंभ होता है।

लेकिन जहां मुझे होना चाहिए था क्या मैं वहां हूं या वहां तक पहुंचने का रास्ता है? यदि हम यह कहें कि आगे कोई रास्ता नहीं है तो यह निश्चय ही हमारी गलतफहमी है क्योंकि परिवेश वहीं तक है जहां तक सृजक है और सृजक ही तो लेखक है। इसलिए यदि रास्ता नहीं होगा तो मेरे लेखक होने की अनिवार्यता भी खत्म हो जाएगी। इसलिए रास्ते जरूर हैं। और ये रास्ते परिवेश के साथ सम्बन्ध को स्वयं ही रचना का मूल्य बना देते हैं और मूल्य अथवा महत्व इस गतियुक्त और वर्धमान परम्परा में, परिवेश की सजीव प्रवहमानता में अनुकूलता से व्यंजित होते हैं। अतः जहां परिवेश अपनी महत्ता को दर्शाते हैं वहीं यह भी आवश्यक है कि सर्जक में अतीत की चेतना विद्यमान हो और इसे ही हमें आजीवन पुष्ट और विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसकी अनुभूति परिवेश के बाहर की किसी अनुभूति से तुलना नहीं कर सकती। यह अनुभूति एक ही भाव के द्वारा उत्पन्न हो सकती है या अनेक भावों के सम्मिश्रण से, और यह अनुभूति उत्पन्न करने के लिए सर्जक कई प्रकार के साधन काम में ला सकता है, कई प्रकार के मूल्यों द्वारा परिवेश को गढ़ सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि परिवेश अपने में एक विशिष्ट दृष्टि, एक विशिष्ट 'विज़न' है जिसे अपने सर्जक के अस्तित्व के लिए ज्ञान के किसी अन्य प्रकार-विज्ञान, दर्शन या समाजशास्त्र आदि पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। परिवेश का सत्य इसी अर्थ में मूल्यों का सत्य है क्योंकि यह मूल्यों का अनुभव है तथा साथ ही सर्जक के मानस की ओर उन्मुख है। इसलिए परिवेश सत्य का संवाहक नहीं बल्कि सत्य की संवेदना है जो अंततः 'सृजनशिल्पी' से जुड़ी हुई है।

अतः परिवेश मूल्यों का उन्मोचन नहीं है बल्कि मूल्यों से मुक्ति है, वह सर्जक की अभिव्यंजना नहीं बल्कि सर्जक से मोक्ष है। अतः मूलतः यह सजीव स्पन्दन की चेतना है जो मन से अपने को 'अनुभव' कराती है।

[विश्राम कुटी, सहेली मार्ग उदयपुर (राज०)-313001]

मिस पाल

□ मोहन राकेश

वह दूर से दिखाई देती आकृति मिस पाल ही हो सकती थी।

फिर भी विश्वास करने के लिए मैंने अपना चश्मा ठीक किया। निःसन्देह, वह मिस पाल ही थी। यह तो खैर मुझे पता था कि वह उन दिनों कुल्लू में ही कहीं रहती है, पर इस तरह अचानक उससे भेंट हो जाएगी, यह नहीं सोचा था। और उसे सामने देखकर भी मुझे विश्वास नहीं हुआ कि वह स्थायी रूप से कुल्लू और मनाली के बीच उस छोटे-से गांव में रहती होगी। जब वह दिल्ली से नौकरी छोड़कर आई थी, तो लोगों ने उसके बारे में क्या-क्या नहीं सोचा था!

बस रायसन के डाकखाने के पास पहुंचकर रुक गई। मिस पाल डाकखाने के बाहर खड़ी पोस्टमास्टर से कुछ बात रही थी। हाथ में वह एक थैला लिए थी। बस के रुकने पर न जाने किस बात के लिए पोस्टमास्टर को धन्यवाद देती हुई वह बस की तरफ मुड़ी। तभी मैं उतरकर उसके सामने पहुंच गया। एक आदमी के अचानक सामने आ जाने से मिस पाल थोड़ा अचकचा गई, मगर मुझे पहचानते ही उसका चेहरा खुशी और उत्साह से खिल गया।

"रणजीत तुम?" उसने कहा, "तुम यहां कहां से टपक पड़े?"

"मैं इस बस से मनाली से आ रहा हूं।" मैंने कहा।

"अच्छा! मनाली तुम कब से आए हुए थे?"

"आठ-दस दिन हुए, आया था। आज वापस जा रहा हूं।"

"आज ही जा रहे हो?" मिस पाल के चेहरे से आधा उत्साह गायब हो गया, "देखो, कितनी बुरी बात है कि आठ-दस दिन से तुम यहां हो और मुझसे मिलने की तुमने कोशिश भी नहीं की। तुम्हें यह तो पता ही था कि मैं आजकल कुल्लू में हूं।"

"हां, यह तो पता था, पर यह नहीं पता था कि कुल्लू के किस हिस्से में हो। अब भी तुम अचानक ही दिखाई दे गई, नहीं मुझे कहां से पता चलता कि तुम इस जंगल को आबाद कर रही हो?"

"सचमुच बहुत बुरी बात है," मिस पाल उलाहने के स्वर में बोली, "तुम इतने दिनों से यहां हो और मुझसे तुम्हारी भेंट हुई आज जाने के वक्त..."

ड्राइवर जोर-जोर से हार्न बजाने लगा। मिस पाल ने कुछ चिढ़कर ड्राइवर की तरफ देखा और एकदम झिड़का और क्षमा मांगने के स्वर में कहा, "बस जी एक मिनट। मैं भी इसी बस से कुल्लू चल रही हूं। मुझे कुल्लू की एक सीट दे दीजिए। थैंक यू। थैंक यू वेरी मच!"

tharahkardu.in

और फिर मेरी तरफ मुड़कर बोली, "तुम इस बस से कहां तक जा रहे हो ?"

"आज तो इस बस से जोगिन्दर नगर जाऊंगा। वहां एक दिन रहकर कल सुबह आगे की बस पकड़ूंगा।"

ड्राइवर अब और जोर से हार्न बजाने लगा। मिस पाल ने एक बार क्रोध और बेबसी के साथ उसकी तरफ देखा और बस के दरवाजे की तरफ बढ़ती हुई बोली, "अच्छा, कुल्लू तक तो हम लोगों का साथ है ही, और बात कुल्लू पहुंचकर करेंगे। मैं तो कहती हूं कि तुम दो-चार दिन यहीं रुको, फिर चले जाना।"

बस में पहले ही बहुत भीड़ थी दो-तीन आदमी वहां से और चढ़ गए थे, जिससे अन्दर खड़े होने की जगह भी नहीं रही थी। मिस पाल दरवाजे से अन्दर जाने लगी तो कण्डक्टर ने हाथ बढ़ाकर उसे रोक दिया। मैंने कण्डक्टर से बहुतेरा कहा कि अन्दर मेरे वाली जगह खाली है, मिस साहब वहां बैठ जाएंगी और मैं भीड़ में किसी तरह खड़ा होकर चला जाऊंगा, मगर कण्डक्टर एक बार जिद पर अड़ा तो अड़ा ही रहा कि और सवारी वह नहीं ले सकता। मैं अभी उससे बात कर ही रहा था कि ड्राइवर ने बस स्टार्ट कर दी। मेरा सामान बस में था, इसलिए मैं दौड़कर चलती बस में सवार हो गया। दरवाजे के अन्दर जाते हुए मैंने एक बार मुड़कर मिस पाल की तरफ देख लिया। वह इस तरह अचकचाई-सी खड़ी थी जैसे कोई उसके हाथ से उसका सामान छीनकर भाग गया हो और उसे समझ न आ रहा हो कि उसे अब क्या करना चाहिए।

बस हल्के-हल्के मोड़ काटती कुल्लू की तरफ बढ़ने लगी। मुझे अफ़सोस होने लगा कि मिस पाल को बस में जगह नहीं मिली तो मैंने ही क्यों न अपना सामान वहां उतरवा लिया। मेरा टिकट जोगिन्दरनगर का था, पर यह जरूरी नहीं था कि उस टिकट से जोगिन्दर नगर तक जाऊं ही। मगर मिस पाल से भेंट कुछ ऐसे आकस्मिक ढंग से हुई थी और निश्चय करने के लिए समय इतना कम था कि मैं यह बात उस समय सोच भी नहीं सका था। थोड़ा-सा भी समय और मिलता, तो मैं जरूर कुछ देर के लिए वहां उतर जाता। उतने समय में तो मैं मिस पाल से कुशल-समाचार भी नहीं पूछ सका था, हालांकि मन में उसके सम्बन्ध में कितना-कुछ जानने की उत्सुकता थी। उसके दिल्ली छोड़ने के बाद लोग उसके बारे में जाने क्या-क्या बातें करते रहे थे। किसी का ख्याल था कि उसने कुल्लू में एक रिटायर्ड अंग्रेज मेजर से शादी कर ली है और मेजर ने अपने सेब के बगीचे उसके नाम कर दिए हैं। किसी की सूचना थी कि उसे वहां सरकार की तरफ से वज़ीफा मिल रहा है और वह करती बरती कुछ नहीं, बस घूमती और हवा खाती है। कुछ ऐसे लोग भी थे जिनका कहना था कि मिस पाल का दिमाग खराब हो गया है और सरकार उसे इलाज के लिए अमृतसर पागलखाने में भेज रही है। मिस पाल एक दिन अचानक अपनी लगी हुई पांच सौ की नौकरी छोड़कर चली आई थी, इससे लोगों में उसके बारे में तरह-तरह की कहानियां प्रचलित थीं।

जिन दिनों मिस पाल ने त्यागपत्र दिया, मैं दिल्ली में नहीं था। लम्बी छुट्टी लेकर बाहर गया था। मगर मिस पाल के नौकरी छोड़ने का कारण मैं काफी हद तक जानता था। वह सूचना में हम लोगों के साथ काम करती थी और राजेन्द्रनगर में हमारे घर से दस-बाहर घर छोड़कर रहती थी। दिल्ली में भी उसका जीवन काफी अकेला था, क्योंकि दफ्तर में ज्यादातर लोगों से उसका मनमुटाव था और बाहर के लोगों से वह मिलती बहुत कम थी। दफ्तर का वातावरण

उसे अपने अनुकूल नहीं लगता था। वह वहां एक-एक दिन जैसे गिनकर काटती थी। उसे हर एक से शिकायत थी कि वह घटिया किस्म का आदमी है, जिसके साथ उसका उठना बैठना नहीं हो सकता।

"ये लोग इतने ओछे और बेईमान हैं," वह कहा करती, "इतनी छोटी और कमीनी बातें करते हैं कि मेरा इनके बीच काम करते हर वक्त दम घुटता रहता है। जाने क्यों ये लोग इतनी छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से लड़ते हैं और अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए एक-दूसरे को कुचलने की कोशिश करते रहते हैं!"

मगर उस वातावरण में उसके दुःखी रहने का मुख्य कारण दूसरा था जिसे वह मुंह से स्वीकार नहीं करती थी। लोग इस बात को जानते थे, इसलिए जान-बूझकर उसे छेड़ने के लिए कुछ-न-कुछ कहते रहते थे। बुखारिया तो रोज ही उसके रंग-रूप पर कोई न कोई टिप्पणी कर देता था।

"क्या बात है मिस पाल, आज रंग बहुत निखर रहा है!"

दूसरी तरफ से जोरावरसिंह बात जोड़ देता, "आजकल मिस पाल पहले से स्लिम भी तो हो रही हैं।"

मिस पाल इन संकेतों से बुरी तरह परेशान हो उठती और कई बार ऐसे मौके पर कमरे से उठकर चली जाती। उसकी पोशाक पर भी लोग तरह-तरह की टिप्पणियां करते रहते थे। वह शायद अपने मुटापे की क्षतिपूर्ति के लिए ही बाल छोटे कटवाती थी, बगैर बांह की कमीजें पहनती थी और बनावसिंगार से चिढ़ होने पर भी रोज काफी समय मेक-अप पर खर्च करती थी। मगर दफ्तर में दाखिल होते ही उसे किसी न किसी के मुंह से ऐसी बात सुनने को मिल जाती थी, "मिस पाल, इस नई कमीज का डिजाइन बहुत अच्छा है। आज तो गजब ढा रही हो तुम!"

मिस पाल को इस तरह की हर बात दिल में चुभ जाती थी। जितनी देर दफ्तर में रहती, उसका चेहरा गम्भीर बना रहता। जब पांच बजते, तो वह इस तरह अपनी मेज से उठती जैसे कई घंटे की सजा भोगने के बाद उसे छुट्टी मिली हो। दफ्तर से उठकर वह सीधी अपने घर चली जाती और अगले दिन सुबह दफ्तर के लिए निकलने तक वहीं रहती। शायद दफ्तर के लोगों से तंग आ जाने की वजह से ही वह और लोगों से भी मेल-जोल नहीं रखना चाहती थी। मेरा घर पास होने की वजह से, या शायद इसलिए कि दफ्तर के लोगों में एक मैं ही था जिसने उसे कभी शिकायत का मौका नहीं दिया था, वह कभी शाम को हमारे यहां चली आती थी। मैं अपनी बुआ के पास रहता था और मिस पाल मेरी बुआ और उनकी लड़कियों से काफी घुल-मिल गई थी। कई बार घर के कामों में वह उनका हाथ भी बंटा देती थी। किसी दिन हम उसके यहां चले जाते थे। वह घर में समय बिताने के लिए संगीत और चित्रकला का अभ्यास करती थी। हम लोग पहुंचते तो उसके कमरे से सितार की आवाज आ रही होती या वह रंग और कूचियां लिए किसी तसवीर में उलझी होती। मगर जब वह इन दोनों में से कोई भी काम न कर रही होती तो अपने तख्त पर बिछे मुलायम गद्दे पर दो तकियों के बीच लेटी छत को ताक रही होती। उसके गद्दे पर जो झीना रेशमी कपड़ा बिछा रहता था, उसे देखकर मुझे बहुत चिढ़ होती थी। मन करता था कि उसे खींचकर बाहर फेंक दूं। उसके कमरे में सितार, तबला, रंग, कैनवस, तस्वीरें, कपड़े तथा नहाने और चाय बनाने का सामान इस तरह उलझे-बिखरे रहते

थे कि बैठने के लिए कुर्सियों का उद्धार करना एक समस्या हो जाती थी। कभी मुझे उसके झीने रेशमी कपड़े वाले तख्त पर बैठना पड़ जाता तो मुझे मन में बहुत ही परेशानी होती। मन करता कि जितनी जल्दी हो वहां से उठ जाऊं। मिस पाल अपने कमरे के चारों तरफ खोजकर जाने कहां से एक चायदानी और तीन-चार टूटी प्यालियां निकाल लेती और हम लोगों को 'फर्स्ट क्लास बोहीमियन कॉफी' पिलाने की तैयारी करने लगती। कभी वह हम लोगों को अपनी बनाई तस्वीरें दिखाती और हम तीनों—मैं और मेरी दोनों बहनें—अपना अज्ञान छिपाने के लिए उनकी प्रशंसा कर देते। मगर कई बार वह हमें बहुत उदास मिलती और ठीक ढंग से बात भी न करती। मेरी बहनें ऐसे मौके पर उससे चिढ़ जातीं और कहतीं कि वे उसके यहां फिर नहीं जाएंगी। मगर मुझे ऐसे अवसर पर मिस पाल से ज्यादा सहानुभूति होती।

आखिरी बार जब मैं मिस पाल के यहां गया, मैंने उसे बहुत ही उदास देखा था। मेरा उन दिनों एपेंडेसाइटिस का आपरेशन हुआ था और मैं कई दिन अस्पताल में रहकर आया था। मिस पाल उन दिनों रोज अस्पताल में खबर पूछने आती रही थी। बुआ अस्पताल में मेरे पास रहती थी पर खाने-पीने का सामान इकट्ठा करना उनके लिए मुश्किल था। मिस पाल सुबह-सुबह आकर सब्जियां और दूध दे जाती थी। जिस दिन मैं उसके यहां गया, उससे एक ही दिन पहले मुझे अस्पताल से छुट्टी मिली थी और मैं अभी काफी कमजोर था। फिर भी उसने मेरे लिए जो तकलीफ उठाई थी, उसके लिए मैं उसे धन्यवाद देना चाहता था।

मिस पाल ने दफ्तर से छुट्टी ले रखी थी और कमरा बन्द किए अपने गद्दे पर लेटी थी। मुझे पता लगा कि शायद वह सुबह से नहाई भी नहीं है।

"क्या बात है, मिस पाल? तबीयत तो ठीक है?" मैंने पूछा।

"तबीयत ठीक है," उसने कहा, "मगर मैं नौकरी छोड़ने की सोच रही हूं।"

"क्यों? कोई खास बात हुई है क्या?"

"नहीं, खास बात क्या होगी? बात बस इतनी ही है मैं ऐसे लोगों के बीच काम कर ही नहीं सकती। मैं सोच रही हूं कि दूर के किसी खूबसूरत-से पहाड़ी इलाके में चली जाऊं और वहां रहकर संगीत और चित्रकला का ठीक से अभ्यास करूं। मुझे लगता है, मैं खामखाह यहां अपनी जिन्दगी बरबाद कर रही हूं। मेरी समझ में नहीं आता कि इस तरह की जिन्दगी जीने का आखिर मतलब ही क्या है? सुबह उठती हूं, दफ्तर चली जाती। वहां सात-आठ घंटे खराब करके घर आती हूं, खाना खाती हूं और सो जाती हूं। यह सारा का सारा सिलसिला मुझे बिलकुल बेमानी लगता है। मैं सोचती हूं कि मेरी जरूरतें ही कितनी हैं? मैं कहीं भी जाकर एक छोटा-सा कमरा या शैक लूं तो थोड़ा-सा जरूरत का सामान अपने पास रखकर पचास-साठ या सौ रुपये में गुजारा कर सकती हूं। यहां मैं जो पांच सौ लेती हूं, वे पांच के पांच सौ हर महीने खर्च हो जाते हैं। किस तरह खर्च हो जाते हैं, यह खुद मेरी समझ में नहीं आता। पर अगर जिन्दगी इसी तरह चलती है, तो क्यों मैं खामखाह दफ्तर जाने-आने का भार ढोती रहूं? बाहर रहने से कम से कम अपनी स्वतन्त्रता तो होगी। मेरे पास कुछ रुपये पहले के हैं, कुछ मुझे प्राविडेंट फण्ड के मिल जाएंगे। इतने में एक छोटी-सी जगह पर मेरा काफी दिन गुजारा हो सकता है। मैं ऐसी जगह रहना चाहती हूं जहां यहां की-ही गन्दगी न हो और लोग इस तरह की छोटी हरकतें न करते हों। ठीक से जीने के लिए इन्सान को कम से कम इतना तो महसूस होना चाहिए कि उसके आसपास का वातावरण उजला और साफ है, और वह एक मेंढक की तरह

गंदले पानी में नहीं जी रहा।

"मगर तुम यह कैसे कह सकती हो कि जहां भी तुम जाकर रहोगी, वहां हर चीज वैसी ही होगी जैसी तुम चाहती हो ? मैं तो समझता हूं कि इन्सान जहां भी चला जाए, अच्छी और बुरी दोनों तरह की चीजें उसे अपने आसपास मिलती हों। तुम यहां के वातावरण से घबराकर कहीं और जाती हो, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वहां का वातावरण भी तुम्हें ऐसा ही नहीं लगेगा ? इसलिए मेरे खयाल से नौकरी छोड़ने की बात तुम गलत सोचती हो। तुम यहीं रहो और अपना संगती और चित्रकला का अभ्यास करती रहो। लोग जैसी बातें करते हैं, करने दो।"

पर मिस पाल की वितृष्णा इससे कम नहीं हुई। "तुम नहीं समझते, रणजीत," वह बोली, "यहां ऐसे लोगों के बीच रहूंगी, तो मेरा दिमाग बिलकुल खोखला हो जाएगा। तुम नहीं जानते कि मैं जो तुम्हारे लिए सुबह दूध और सब्जियां लेकर जाती रही हूं, उसे लेकर भी ये लोग क्या-क्या बातें करते रहे हैं। जो लोग अच्छे-से-अच्छे काम का ऐसा कमीना मतलब लेते हों उनके बीच आदमी रह ही कैसे सकता है ? मैंने यह सब बहुत दिन सह लिया है, अब और मुझसे नहीं सहा जाता। मैं सोच रही हूं जितनी जल्दी हो सके यहां से चली जाऊं। बस यही एक बात तय नहीं कर पा रही कि जाऊं कहां। अकेली होने से किसी अनजान जगह जाकर रहते डर लगता है। तुम जानते ही हो कि मैं···।" और बात-बीच में छोड़कर वह उठ खड़ी हुई, "अच्छा, तुम्हारे लिए कुछ चाय-वाय तो बनाऊं। तुम अभी अस्पताल से निकलकर आए हो और मैं हूं कि अपनी ही बात किए जा रही हूं। तुम्हें अभी कुछ दिन घर पर आराम करना चाहिए। अभी से इस तरह चलना-फिरना ठीक नहीं।"

"मैं चाय नहीं पिऊंगा," मैंने कहा, "मैं तुम्हें समझा तो नहीं सकता, सिर्फ इतना कह सकता हूं कि तुम लोगों की बातों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे रही हो। मेरा यह भी ख्याल है कि लोग वास्तव में उतने बुरे नहीं हैं जितना कि तुम उन्हें समझती हो अगर तुम इस नजर से सोचो कि···।"

"इस बात को रहने दो," मिस पाल ने मेरी बात बीच में काट दी, "मैं इन लोगों से दिल से नफरत करती हूं। तुम इन्हें इन्सान समझते हो ? मुझे तो ऐसे लोगों से अपना पिंकी ज्यादा अच्छा लगता है। यह उन सबसे कहीं ज्यादा सभ्य है।"

पिंकी मिस पाल का छोटा-सा कुत्ता था। वह कुछ देर उसे गोदी में लिए उसके बालों पर हाथ फेरती रही। मैंने पहले भी कई बार देखा था कि वह उस कुत्ते को एक बच्चे की तरह प्यार करती है और उसे खाना खिलाकर बच्चों की तरह ही तौलिये से उसका मुंह पोंछती है। मैं कुछ देर बाद वहां से उठकर चला, तो मिस पाल पिंकी को गोदी में लिए मुझे बाहर दरवाजे तक छोड़ने आई।

"अंकल को टा टा करो," वह पिंकी की एक अगली टांग हाथ से हिलाती हुई बोली, "टा, टा, टा टा !"

मैं लम्बी छुट्टी से वापस आया, तो मिस पाल त्यागपत्र देकर जा चुकी थी। वह अपने बारे में लोगों को इतना ही बताकर गई थी कि वह कुल्लू के किसी गांव में बसने जा रही है। बाकी बातें लोगों की कल्पना ने अपने-आप जोड़ दी थीं।

बस ब्यास के साथ-साथ मोड़ काट रही थी और मेरा मन हो रहा था कि लौटकर राय-

सन चला जाऊं। मैं मनाली में दस दिन अकेला रहकर ऊब गया था, और मिस पाल थी कि कई महीनों से वहां रहती थी। मैं जानना चाहता था कि वह अकेली वहां कैसा महसूस करती है और नौकरी छोड़ने के बाद से उसने क्या-क्या कुछ कर डाला है। यूं एक अपरिचित स्थान पर किसी पुराने परिचित से मिलने और बात का भी अपना आकर्षण होता है। बस जब कुल्लू पहुंचकर रुकी, तो मैंने अपना सामान वहां उतरवाकर हिमाचल राज्य परिवहन के दफ्तर में रखवा दिया और रायसन के लिए वापसी की पहली बस पकड़ ली। बस ने पन्द्रह-बीस मिनट में मुझे रायसन के बाजार में उतार दिया। मैंने वहां एक दुकानदार से पूछा कि मिस पाल कहां रहती हैं।

"मिस पाल कौन है, भाई ?" दुकानदार ने अपने पास बैठे युवक से पूछा।

"वह तो नहीं, वह कटे बालों वाली मिस ?

"हां-हां, वही होगी।"

दुकान में और भी चार-पांच व्यक्ति थे। उन सबकी आंखें मेरी तरफ घूम गई। मुझे लगा जैसे वे मन में यह तय करना चाह रहे हों कि कटे बालों वाली मिस के साथ मेरा क्या रिश्ता होगा।

"चलिए, मैं आपको उसके यहां छोड़ आता हूं," कहकर युवक दुकान से उतर आया। सड़क पर मेरे साथ चलते हुए उसने पूछा, "क्यों भाई साहब यह मिस क्या अकेली ही है या···?"

"हां अकेली ही है।"

कुछ देर हम लोग चुप रहकर चलते रहे। फिर उसने पूछा, "आप उसके क्या लगते हैं?"

मुझे समझ नहीं आया कि मैं उसको क्या उत्तर दूं। पल-भर सोचकर मैंने कहा, "मैं उसका रिश्तेदार नहीं हूं। उसे वैसे ही जानता हूं।"

सड़क से बांई तरफ थोड़ा ऊपर को जाकर हम लोग एक खुले मैदान में पहुंच गए। मैदान चारों तरफ से पेड़ों से घिरा था और बीच में पांच-छह जालीदार कॉटेज बने थे, जो बड़े-बड़े मुर्गी-खानों जैसे लगते थे। लड़का मुझे बताकर कि उनमें पहला कॉटेज मिस पाल का है, वहां से लौट गया। मैंने जाकर कॉटेज का दरवाजा खटखटाया।

"कौन है ?" अन्दर से मिस पाल की आवाज सुनाई दी।

"एक मेहमान है मिस, दरवाजा खोलो।"

"दरवाजा खुला है, आ जाइए।"

मैंने दरवाजा धकेलकर खोल लिया और अन्दर चला गया। मिस पाल ने एक चारपाई पर अपना गद्दा लगा रखा था और उसी तरह दो तकियों के बीच लेटी थी जैसे दिल्ली में अपने तख्त पर लेटी रहती थी। सिरहाने के पास एक खुली हुई पुस्तक रखी थी—बर्ट्रेण्ड रसेल की 'कांक्वेस्ट ऑफ हेपीनेस'। मैं देखकर तय नहीं कर सका कि वह पुस्तक पढ़ रही थी या लेटी हुई सिर्फ छत की तरफ देख रही थी। मुझे देखते ही वह चौंककर बैठ गई।

"अरे तुम···?"

"हां, मैं। तुमने सोचा भी नहीं होगा कि गया आदमी फिर वापस भी आ सकता है।"

"बहुत अजीब आदमी हो तुम ! वापस आना था, तो उसी समय क्यों नहीं उतर गए।"

"बजाय इसके कि शुक्रिया अदा करो जो सात मील जाकर वापस चला आया हूं···।"

"शुक्रिया अदा करती अगर तुम उसी समय उतर जाते और मुझे बस में अपनी सीट ले लेने देते।"

मैंने ठहाका लगाया और बैठने के लिए जगह ढूंढ़ने लगा। वहां भी चारों तरफ वही बिखराव और अव्यवस्था थी जो दिल्ली में उसके घर दिखाई दिया करती थी। हर चीज हर दूसरी चीज की जगह काम में लाई जा रही थी। एक कुरसी ऊपर से नीचे तक मैले कपड़ों से लदी थी। दूसरी पर कुछ रंग बिखरे थे और एक प्लेट रखी थी जिसमें बहुत-सी कीलें पड़ी थीं।

"बैठो, मैं झट से तुम्हारे लिए चाय बनाती हूं," मिस पाल व्यस्त होकर उठने लगी।

"अभी मुझसे बैठने को तो कहा नहीं, और चाय की फिक्र पहले से करने लगीं?" मैंने कहा, "मुझे बैठने की जगह बता दो और चाय-वाय रहने दो। इस वक्त तुम्हारी 'बोहीमियन चाय' पीने का जरा मन नहीं है।"

"तो मत पियो। मुझे कौन झंझट करना अच्छा लगता है! बैठने की जगह मैं अभी बनाए देती हूं।" और कपड़े-अपड़े हटाकर उसने एक कुरसी खाली कर दी। बाईं तरफ एक बड़ी-सी मेज थी, पर उस पर भी इतनी चीजें पड़ी थीं कि कहीं कुहनी रखने तक की जगह नहीं थी। मैंने बैठकर टांगे फैलाने की कोशिश की तो पता चला कपड़ों के ढेर के नीचे मिस पाल ने अपने बनाए खाके रख रखे हैं। मिस पाल फिर से अपने बिस्तर में तकियों के सहारे बैठ गई थी। गद्दे पर उसने वही झीना रेशमी कपड़ा बिछा रखा था, जिसे देखकर मुझे चिढ़ हुआ करती थी। मेरा उस समय भी मन हुआ कि उस कपड़े को निकालकर फाड़ दूं या कहीं आग में झोंक दूं। मैंने सिगरेट सुलगाने के लिए मेज से दियासलाई की डिबिया उठाई मगर खोलते ही वापस रख दी। डिबिया में दियासलाइयां नहीं थीं, गुलाबी-सा रंग भरा था। मैंने चारों तरफ नजर दौड़ाई, मगर और डिबिया कहीं दिखाई नहीं दी।

"दियासलाई किचन में होगी, मैं अभी लाती हूं," कहती हुई मिस पाल फिर उठी और कमरे से चली गयी। मैं उतनी देर आसपास देखता रहा। मुझे फिर उस दिन की याद हो आई जिस दिन मैं मिस पाल के घर देर तक बैठा उससे बातें करता रहा था। पिंकी से मिस पाल के 'टा टा' करने की बात याद आने से मैं हंस दिया।

तभी मिस पाल दियासलाई की डिबिया लिए आ गई। मेरा अकेले में हंसना शायद उसे बहुत अस्वभाविक लगा। वह सहसा गम्भीर हो गई।

"किसी ने कुछ पिला-विला दिया है क्या? उसने मजाक और शिकायत के स्वर में कहा।

"मैं अपने इस तरह लौटकर आने की बात पर हंस रहा हूं।" और जैसे अपने को ही अपने झूठ का विश्वास दिलाने के लिए मैंने अपनी हंसी की नकल की और कहा, मैं सोच भी नहीं सकता था कि इस अनजान जगह पर अचानक तुमसे भेंट हो जाएगी? और तुम्हीं ने कहां सोचा होगा कि जो आदमी बस में आगे चला गया था, वह घण्टा-भर बाद तुम्हारे कमरे में बैठा तुमसे बात कर रहा होगा!"

और विश्वास करके कि मैंने अपने हंसने के कारण की व्याख्या कर दी है, मैंने पूछा, "तुम्हारा पिंकी कहां है? यहां दिखाई नही दे रहा।"

मिस पाल पहले से भी गम्भीर हो गई। मुझे लगा कि उसका चेहरा अब काफी रूखा लगने लगा है। आंखों में लाली भर रही थी, जैसे कई रातों से वह ठीक से सोई न हो।

पिंकी को यहां आने के बाद एक रात सर्दी लग गई थी," उसने अपनी उसांस दबाकर

कहा, "मैंने उसे कितनी ही गरम चीजें खिलाईं, पर वह दो दिन में चलता बना।"

मैंने विषय बदल दिया। उससे शिकायत करने लगा कि वह जो अपने बारे में बिना किसी को ठीक बताए दिल्ली से चली आई, यह उसने ठीक नहीं किया।

"दफ्तर में अब भी लोग मिस पाल की बात करके हंसते होंगे।" उसने ऐसे पूछा जैसे वह स्वयं उस मिस पाल से भिन्न हो, जिसके बारे में वह सवाल पूछ रही थी। पर उसकी आंखों में यह जानने की बहुत उत्सुकता भर रही थी कि मैं उसके सवाल का क्या जवाब देता हूं।

"लोगों की बातों को तुम इतना महत्त्व क्यों देती हो?" मैंने कहा। "लोग वैसी बातें इसलिए करते हैं कि उनके जीवन में मनोरंजन के दूसरे साधन बहुत कम होते हैं जब वह व्यक्ति चला जाता है तो चार दिन में यह भूल जाते हैं कि संसार में उनका अस्तित्व था भी या नहीं।

कहते-कहते मुझे एहसास हो आया कि मैंने यह कहकर गलती की है। मिस पाल मुझसे यही सुनना चाहती थी कि लोग अब उसके बारे में उसी तरह बात करते हैं और उसी तरह उसका मजाक उड़ाते हैं—यह विश्वास उसके लिए अपने वर्तमान को सार्थक समझने के लिए जरूरी था।

"हो सकता है तुम्हारे सामने बात न करते हों," मिस पाल बोली, "क्योंकि उन्हें पता है कि हम लोग···अम्···अ···मित्र रहे हैं। नहीं तो वे कमीने लोग बात करने से बाज आ सकते हैं?"

अच्छा था कि मिस पाल ने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया। उसने समझा कि मैं झठमूठ उसे दिलासा देने की कोशिश कर रहा हूं।

"हो सकता है बात करते भी हों," मैंने कहा, "पर तुम अब उन लोगों की बात क्यों सोचती हो? कम-से-कम तुम्हारे लिए तो उन लोगों का अब अस्तित्व ही नहीं है।"

"मेरे लिए उन लोगों का अस्तित्व कभी था ही नहीं," मिस पाल ने मुंह बिचका दिया, "मैं उनमें से किसी को अपने पैर के अंगूठे के बराबर भी नहीं समझती थी।"

आंखों से लग रहा था जैसे अब भी उन लोगों को अपने पास देख रही हो और उसे खेद हो कि वह ठीक से उनसे प्रतिशोध क्यों नहीं ले पा रही।

"तुम्हें पता है कि रमेश का फिर लखनऊ ट्रांसफर हो गया है?" मैंने बात बदल दी।

"अच्छा, मुझे पता नहीं था!"

पर उसने उस सम्बन्ध में और जानने की उत्सुकता प्रकट नहीं की। मैं फिर उसे रमेश के ट्रांसफर का किस्सा विस्तार से सुनाने लगा। मिस पाल 'हूं-हां' करती रही। पर यह साफ था कि वह अपने अन्दर ही कहीं खो गई है।

मैं रमेश की बात कह चुका, तो कुछ क्षण हम दोनों चुप रहे। फिर मिस पाल बोली, "देखो, मैं तुमसे सच कहती हूं रणजीत, मुझे वहां उन लोगों के बीच एक-एक पल काटना असम्भव लगता था। मुझे लगता था, मैं नरक में रहती हूं। तुम्हें पता ही है, मैं दफ्तर में किसी से बात करना भी पसन्द नहीं करती थी।"

मैं सुबह मनाली से बिना नाश्ता किए चला था, इसलिए मुझे भूख लग आई थी। मैंने बात को रोटी के प्रकरण पर ले आना उचित समझा। मैंने उससे पूछा कि उसने खाने की क्या व्यवस्था कर रखी है—खुद बनाती है, या कोई नौकर रख रखा है।

"तुम्हें भूख तो नहीं लगी ?" मिस पाल अब दफ्तर के माहौल से बाहर निकल आई, "लगी हो, तो उधर मेरे साथ किचन में चलो। जो कुछ बना है, इस वक्त तो तुम्हें उसी में से थोड़ा-बहुत खा लेना होगा। शाम को मैं तुम्हें ठीक से बनाकर खिलाऊंगी। मुझे तुम्हारे आने का पता होता, तो मैं इस वक्त भी कुछ और चीज बना रखती। यहां बाजार में तो कुछ मिलता ही नहीं। किसी दिन अच्छी सब्जी मिल जाए, तो समझो बड़े भाग्य का दिन है। कोई दिन होता है जिस दिन एकाध अण्डा मिल जाता है।···शाम को मैं तुम्हारे लिए मछली बनाऊंगी। यहां की ट्राउट बहुत अच्छी होती है। मगर मिलती बहुत मुश्किल से है।"

मुझे खुशी हुई कि मैंने सफलतापूर्वक बात का विषय बदल दिया है। मिस पाल बिस्तर से उठकर खड़ी हो गई थी। मैंने भी कुर्सी से उठते हुए कहा, "आओ, चलकर तुम्हारा रसोई-घर तो देख लूं। इस समय मुझे कसकर भूख लगी है, इसलिए जो कुछ भी बना है वह मुझे ट्राउट से अच्छा लगेगा। शाम को मैं जोगिन्दरनगर पहुंच जाऊंगा।"

मिस पाल दरवाजे से बाहर निकलती हुई सहसा रुक गई।

"तुम्हें शाम को जोगिन्दरनगर ही पहुंचना है तो लौटकर क्यों आए थे? यह बात तुम गांठ में बांध लो कि आज मैं तुम्हें यहां से नहीं जाने दूंगी। तुम्हें पता है इन तीन महीनों से तुम मेरे यहां पहले ही मेहमान आए हो? मैं तुम्हें आज कैसे जाने दे सकती हूं?···तुम्हारे साथ कुछ सामान-आमान भी है या ऐसे ही चले आए थे?"

मैंने उसे बताया कि मैं अपना सामान हिमाचल राज्य परिवहन के दफ्तर में छोड़ आया हूं और उससे कह आया हूं कि मैं दो घंटे में लौट आऊंगा।

"मैं अभी पोस्टमास्टर से वहां टेलीफोन कर दूंगी। कल तक तुम्हारा सामान यहां ले आएंगे। तुम कम-से-कम एक सप्ताह यहां रहोगे। समझे? मुझे पता होता कि तुम मनाली में आए हुए हो तो मैं भी कुछ दिन के लिए वहां चली आती। आजकल तो मैं यहां···खैर···तुम पहले उधर तो आओ, नहीं भूख के मारे ही यहां से भाग जाओगे।"

मैं इस नई स्थिति के लिए तैयार नहीं था। उस सम्बन्ध में बाद में बात करने की सोचकर मैं उसके साथ रसोईघर में चला गया। रसोईघर में कमरे जितनी अराजकता नहीं थी, शायद इसलिए कि वहां सामान ही बहुत कम था। एक कपड़े की आराम कुर्सी थी, जो लगभग खाली ही थी—उस पर सिर्फ नमक का डिब्बा रखा हुआ था। शायद मिस पाल उस पर बैठकर खाना बनाती थी। खाना बनाने का और सारा सामान एक टूटी हुई मेज पर रखा था। कुर्सी पर रखा हुआ डिब्बा उसने जल्दी से उठाकर मेज पर रख दिया और इस तरह मेरे बैठने के लिए जगह कर दी।

फिर मिस पाल ने जल्दी-जल्दी स्टोव जलाया और सब्जी की पतीली उस पर रख दी। कलछी साफ नहीं थी, वह उसे साफ करने के लिए बाहर चली गई। लौटकर उसे कलछी को पोंछने के लिए कोई कपड़ा नहीं मिला। उसने अपनी कमीज से ही उसे पोंछ लिया और सब्जी को हिलाने लगी।

"दो आदमियों का खाना है भी या दोनों को ही भूखे रहना पड़ेगा।" मैंने पूछा?

"खाना बहुत है," मिस पाल झुककर पतीली में देखती हुई बोली।

"क्या-क्या है?

मिस पाल कलछी से पतीली में टटोलकर देखने लगी।

"बहुत कुछ है। आलू भी हैं, बैंगन भी हैं और शायद···शायद बीच में एकाध टींडा भी है। यह सब्जी मैंने परसों बनाई थी।"

"परसों ?" मैं ऐसे चौंक गया जैसे मेरा माथा सहसा किसी चीज से टकरा गया हो। मिस पाल कलछी चलाती रही।

"हर रोज तो नहीं बना पाती हूं," वह बोली। रोज बनाने लगूं तो बस खाना बनाने की ही हो रहूं। और अम्···अ···अपने अकेली के लिए रोज बनाने का उत्साह भी तो नहीं होता। कई बार तो मैं सप्ताह-भर का खाना एक साथ बना लेती हूं और फिर निश्चिन्त होकर खाती रहती हूं। कहो तो तुम्हारे लिए मैं अभी ताजा बना दूं।

"तो चपातियां भी क्या परसों की ही बना रखी हैं ?" मैं अनायास कुर्सी से उठ खड़ा हुआ।

"आओ, इधर आकर देख लो, खा सकोगे या नहीं।" वह कोने में रखे हुए बेंत के सन्दूक के पास चली गई। मैं भी उसके पास पहुंच गया। मिस पाल ने सन्दूक का ढकना उठा दिया। सन्दूक में पच्चीस-तीस खुश्क चपातियां पड़ी थीं। सूखकर उन सबने कई तरह की आकृतियां धारण कर ली थीं। मैं सन्दूक के पास से आकर फिर कुर्सी पर बैठ गया।

"तुम्हारे लिए ताजा चपातियां बना देती हूं," मिस पाल एक अपराधी की तरह देखती हुई बोली।

"नहीं-नहीं, जो कुछ बना रखा है वही खाएंगे' "मैंने कहा। मगर अपनी इस भलमनसाहत के लिए मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ गया।

मिस पाल सन्दूक का ढक्कन बन्द करके स्टोव के पास लौट गई।

"सब्जी तीन दिन से ज्यादा नहीं चलती," वह बोली, "बाद में मैं जैम, प्याज और नमक से काम चलाती हूं। यहां अलूचे बहुत मिल जाते हैं, इसलिए मैंने बहुत-सा अलूचे का जैम बना रखा है। खाकर देखो, अच्छा जैम है।···ठहरो, तुम्हें प्लेट देती हूं।"

वह फिर जल्दी से बाहर चली गई और कमरे से कीलोंवाली प्लेट खाली करके ले आई।

"गिलास में अम्···अ", वह आकर बोली, "सरसों का तेल रखा है। पानी तुम प्याली में ही ले लोगे या···?"

ट्राउट मछली···खाना खाते समय और खाना खा चुकने के बाद भी मिस पाल के दिमाग पर ट्राउट मछली की बात ही सवार रही। जैसे भी हो, शाम को वह ट्राउट मछली बनाएगी। उसके हठ की वजह से मैंने उससे कह दिया था कि मैं अगले दिन सुबह तक वहां रह जाऊंगा। मिस पाल ने आगे का फैसला अगले दिन पर छोड़ दिया था। उसे शाम के लिए कई और चीजों का इन्तजाम करना था, क्योंकि ट्राउट मछली आसानी से तो नहीं बन जाती। पहली चीज घी चाहिए था। डिब्बे में घी नाममात्र को ही था। प्याज और मसाला भी घर में नहीं था। मिट्टी का तेल भी चाहिए था। खाने के बाद हम लोग घूमने के लिए निकले तो पहले वह मुझे साथ बाजार में ले गई। हटवार के पास भी घी नहीं था। उसके लिए मिस पाल ने पोस्टमास्टर से अनुरोध किया कि वह अपने घर से उसे शाम के लिए आधा सेर घी भिजवा दे, अगले दिन कल्लू से लाकर लौटा देगी। उससे उसने यह भी कहा कि वह अपने घर के थोड़े-से फ्रेंच बीन भी उतरवाकर उसे भेज दे, और कोई मछलीवाला उधर से गुजरे तो उसके लिए

सेर-भर ट्राउट ले रखे।

"सब्बरवाल साहब, मैं आपको बहुत तकलीफ देती हूं," वह चलने से पहले सात-आठ बार उसे धन्यवाद देकर बोली, 'मगर देखिए, मेरे मेहमान आए हुए हैं, और यहां ट्राउट के अलावा कोई अच्छी चीज मिलती नहीं। देखती हूं, अगर बाली मुझे मिल जाए तो मैं उससे कहूंगी कि वह मुझे दरिया से एक मछली पकड़ दे। मगर बाली का कोई भरोसा नहीं। आप जरूर मेरे लिए ले रखिएगा। मैंने मिसेज एटकिन्सन को भी कहला दिया है। उन्होंने भी ले ली तो मैं आज और कल दोनों दिन बना लूंगी। ध्यान रखिएगा। कई बार मछलीवाला आवाज नहीं लगाता और ऐसे ही निकल जाता है। थैंक यू। थैंक यू वेरी मच!"

मेरे सामान के लिए उसने कुल्लू फोन भी करा दिया। अब सड़क पर चलती हुई वह सुबह के नाश्ते की बात करने लगी।

"रात को तो ट्राउट हो जाएगी, मगर सुबह नाश्ता क्या बनाया जाए? डबल रोटी यहां नहीं मिलेगी, नहीं तो मैं तुम्हें शहद के टोस्ट ही बनाकर खिलाती। अच्छा खैर, देखो···।"

सड़क पर खुली धूप फैली थी और भेड़ों और पशम के बकरों का रेवड़ हमारे आगे-आगे चल रहा था। साथ दो कुत्ते जीभ लपलपाते हुए पहरेदारी करते जा रहे थे। सामने से एक जीप के आ जाने से रेवड़ में खलबली मच गई। बकरीवाले भेड़ों को पहाड़ की तरफ धकेलने लगे। एक भेड़ का बच्चा ढलान से फिसल गया और नीचे से सिर उठाकर मिमियाने लगा। किसी बकरीवाले का ध्यान उसकी तरफ नहीं गया तो मिस पाल सहसा परेशान हो उठी, "ए भाई, देखो वह बच्चा नीचे जा गिरा है। बकरीवाले, एक बच्चा नीचे खाई में गिर गया है, उसे उठा लाओ। ए भाई!"

एक दिन पहले वर्षा हुई थी, इसलिए व्यास खूब चढ़ा हुआ था। नुकीली चट्टानों से चिलता और कटता हुआ पानी शोर करता हुआ बह रहा था। सामने दरिया पार करने का झूला था। झूले की चर्खियां घूम रही थीं, रस्सियां इकट्ठी हो रही थी और झूला दो व्यक्तियों को लिए हुए इस पार से उस पार जा रहा था। सहसा झूले में बैठे हुए दोनों व्यक्ति 'ही-ही-ही-ही' करके हंसने लगे, जैसे किसी को चिढ़ा रहे हों। फिर उनमें से एक ने जोर से छींक दिया। झूला उस पार पहुंच गया और वे व्यक्ति उसी तरह हंसते और छींकते हुए उससे उतर गए। झूला छोड़ दिया गया, और उसकी रस्सियां इस सिरे से उस सिरे तक आधी गोलाइयों में फैल गईं। जो व्यक्ति उधर उतरे थे, वे उस किनारे से फिर एक बार जोर से हंसे। तभी झूला खींचने वालों में एक लड़का मचान से उतरकर हमारे पास आ गया। वह ऐसे बात करने लगा जैसे अभी-अभी कोई दुर्घटना होकर हटी हो।

"मिस साहब," उसने कहा, यह वही सुदर्शन है, जिसने आपके कुत्ते को कुछ खिलाया था। यह अब भी शरारत करने से बाज नहीं आता।"

उन व्यक्तियों के हंसने और छींकने का मिस पाल पर उतना असर नहीं हुआ था जितना उस लड़के की बात का हुआ था। उसका चेहरा एकदम से उतर गया और आवाज खुश्क हो गई।

"यह उधर के गांव का आदमी है न?" उसने पूछा।

"हां, मिस साहब!"

"तुम पोस्टमास्टर को बताना। वे अपने-आप इसे ठीक कर लेंगे।"

"मिस साहब, यह हमसे कहता है कि यह मिस साहब···!"

"तुम इस वक्त जाओ अपना काम करो," मिस पाल उसे झिड़ककर बोली, "पोस्ट-मास्टर से कहना, वे इसे एक दिन में ठीक कर देंगे।"

"मगर मिस साहब···!"

"जाओ, फिर कभी उधर आकर बात करना।"

लड़के की समझ में नहीं आया कि मिस साहब से बात करने में उस समय उससे क्या अपराध हुआ है। वह सिर लटकाए हुए चुपचाप वहां से लौट गया।

कुछ देर हम लोग वहीं रुके रहे। मिस पाल जैसे थकी हुई-सी सड़क के किनारे एक बड़-से पत्थर पर बैठ गई। मैं दरिया के उस पार पहाड़ की चोटी पर उगे हुए बृक्षों की लम्बी पंक्ति को देखने लगा, जो नील आकाश और गुब्बारे जैसे सफेद बालों के बीच खिंची हुई लकीर-सी लगती थी। दरिया के दोनों तरफ पुल के सलेटी खम्भे खड़े थे, जिनपर अभी पुल नहीं बना था। खम्भों के आसपास से झड़कर थोड़ी-थोड़ी मिट्टी दरिया में गिर रही थी। मैंने उधर से आंखें हटाकर मिस पाल की तरफ देखा। मिस पाल मेरी तरफ देख रही थी। शायद वह जानना चाहती थी कि झूलेवाले लड़के की बात का मेरे मन पर क्या प्रभाव पड़ा है।

"तो आगे चलें?" मुझसे आंखें मिलते ही उसने पूछा।

"हां चलो।"

मिस पाल उठ खड़ी हुई। उसकी सांस कुछ-कुछ फूल रही थी। वह चलती हुई मुझे बताने लगी कि वहां के लोगों में कितनी तरह के अन्धविश्वास हैं। जब पिंकी बीमार हुआ तो वहां के लोगों ने सोचा था कि किसी ने उसे कुछ खिला-विला दिया है।

"ये अनपढ़ लोग हैं। मैंने इनकी बातों का विरोध भी नहीं किया। ये लोग अपने अन्ध-विश्वास एक दिन में थोड़े ही छोड़ सकते हैं। इस चीज में जाने अभी कितने बरस लगेंगे!"

और रास्ते में चलते हुए वह बार-बार मेरी तरफ देखती रही कि मुझे उसकी बात पर विश्वास हुआ है या नहीं। मैंने सड़क से एक छोटा-सा पत्थर उठा लिया था और चुपचाप उसे उछालने लगा था। काफी देर तक हम लोग खामोश चलते रहे। वह खामोशी मुझे अस्वा-भाविक लगने लगी तो मैंने मिस पाल से वापस घर चलने का प्रस्ताव किया।

"चलो, चलकर तुम्हारी बनाई हुई तस्वीरें ही देखी जाएं," मैंने कहा, "इन तीन-चार महीनों में तो तुमने काफी काम कर लिया होगा।"

"पहले घर चलकर एक-एक प्याली चाय पीते हैं," मिस पाल बोली। "सचमुच इस समय मैं चाय की गरम प्याली के लिए जिन्दगी की कोई भी चीज कुर्बान कर सकती हूं। मेरा तो मन था कि घर से चलने से पहले ही एक-एक प्याली पी लेते, मगर फिर मैंने कहा कि पोस्टमास्टर से कहने में देर हो जाएगी तो मछलीवाला निकल जाएगा।"

इस बात ने मेरे मनको थोड़ा गुदगुदा दिया कि तीन महीने में आया हुआ पहला मेहमान उस समय मिस पाल के लिए अपनी तस्वीरों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

लौटकर कॉटेज में पहुंचते ही मिस पाल चाय बनाने में व्यस्त हो गई। वह आते हुए काफी थक गई थी, क्योंकि जरा-सी चढ़ाई चढ़ने में ही उसकी सांस फूलने लगती थी, मगर वह जरा देर भी सुस्ताने के लिये नहीं रुकी। चाय के लिए उसकी यह व्यस्तता मुझे बहुत अस्वा-भाविक लगी, शायद इसलिए कि मुझे खुद चाय की जरूरत महसूस नहीं हो रही थी। मिस

पाल इस तरह चम्मचों और प्यालियों को ढूंढ़ने के लिए परेशान हो रही थी, जैसे उसके दस मेहमान चाय का इन्तजार कर रहे हों और उसे समझ न आ रहा हो कि कैसे जल्दी से सारा इन्तजाम करे।

मैं घूमकर कमरे में और बरामदे में लगी हुई तस्वीरों को देखने लगा। जिस-जिस तस्वीर पर भी मेरी नज़र पड़ी, मुझे लगा वह मेरी पहले की देखी हुई है। कुछ बड़ी तस्वीरें थीं जो मिस पाल पंजाब के एक मेले से बनाकर लाई थी। वह अजीब-अजीब-से चेहरे थे, जिन पर हम लोग एक बार फब्तियां कसते रहे थे। जाने क्यों, मिस पाल अपने चित्रों के लिए सदा ऐसे ही चेहरे चुनती थी जो किसी न किसी रूप में विकृत हों! मैंने सारा कमरा और बरामदा घूम लिया। दो-एक अधूरी तसवीरों को छोड़कर मुझे एक भी नई चीज दिखाई नहीं दी मैंने रसोई-घर में जाकर मिस पाल से पूछा कि उसकी नई तस्वीरें कहां हैं।

"अजी छोड़ो भी," मिस पाल प्यालियां धोती हुई बोली, "चाय की प्याली पीकर हम लोग ऊपर की तरफ घूमने चलते हैं। ऊपर एक बहुत पुराना मन्दिर है। वहां का पुजारी तुम्हें ऐसे-ऐसे किस्से सुनाएगा कि तुम सुनकर हैरान रह जाओगे। एक दिन वह बता रहा था कि यहां कुछ मन्दिर ऐसे हैं, जहां लोग पहले तो देवता से वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं, मगर बाद में अगर देवता वर्षा नहीं देता तो उसे हिडिम्बा के मन्दिर में ले जाकर रस्सी से लटका देते हैं। है नहीं मजेदार बात? जो देवता तुम्हारा काम न करे, उसे फांसी लगा दो। मैं कहती हूं रणजीत, यहां लोगों में इतने अन्धविश्वास हैं, इतने अन्धविश्वास हैं कि क्या कहा जाए! ये लोग अभी तक जैसे कौरवों-पाण्डवों के जमाने में ही जीते हैं, आज के जमाने से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।"

और एक बार उड़ती नजर से मुझे देखकर वह चीनी ढूंढ़ने में व्यस्त हो गई। "अरे चीनी कहां चली गई? अभी हाथ में थी, और अभी न जाने कहां रख दी? देखो, कैसी भुलक्कड़ हो गई हूं। मेरा तो बस एक ही इलाज है कि कोई हाथ में छड़ी लेकर मुझे ठीक करे। यह भी कोई रहने का ढंग है जैसे मैं रहती हूं?"

"तुमने यहां के कुछ लैंडस्केप नहीं बनाए?" मैंने पूछा।

"तस्वीरें तो बहुत-सी शुरू कर रखी हैं, पर अभी तक पूरी नहीं कर सकी," मिस पाल जैसे उस मुश्किल स्थिति से बचने का प्रयत्न करती हुई बोली, "अब किसी दिन लगकर सबकी सब तस्वीरें पूरी करूंगी। तारपीन का तेल भी खत्म हो चुका है, किसी दिन जाकर लाना है। कई दिनों से सोच रही थी कि मण्डी जाकर कैनवस और रंग भी ले आऊं, पर यूंही आलस कर जाती हूं। कुछ पेपर भी जिल्द कराने हैं। अब जाऊंगी किसी दिन और सारे काम एक साथ ही कर आऊंगी।"

बात करते हुए मिस पाल की आंखें झुकी जा रही थीं, जैसे वह अपने ही सामने किसी चीज के लिए अपराधी हो, और लगातार बात करके अपने अपराध के अनुभव को छिपाना चाहती हो। मैं चुप रहकर उसे चाय में चीनी मिलाते देखता रहा। उसे देखते हुए उस समय मेरे मन में कुछ वैसी उदासी भरने लगी जैसी एक निर्जन समुद्र-तट पर या ऊंची पहाड़ियों से घिरी हुई किसी एकान्त पथरीली घाटी में जाकर अनायास मन में भर जाती है।

"कल से एक तो मैं अपने घर को ठीक करूंगी," मिस पाल क्षण-भर बाद फिर उसी तरह बिना रुके बात करने लगी, "एक तो घर का सारा सामान ठीक ढंग से लगाना है। तुम्हें

पता है, मैंने कितने चाव से दिल्ली में अपने कमरे के लिए जाली के पर्दे बनवाए थे? वे पर्दे यहां ज्यों के त्यों बक्स में बन्द पड़े हैं; मेरा लगाने को मन ही नहीं हुआ। मैं कल ही तरखान से कहकर पर्दों के लिए चौखटे बनवाऊंगी। खाने-पीने का थोड़ा-बहुत सामान भी घर में रखना ही चाहिए, बिस्कुट, मक्खन, डबल रोटी और आचार का होना तो बहुत ही जरूरी है, जो चीजें कुल्लू से मिल जाती हैं वे तो मैं लाकर रख ही सकती हूं।···तारपीन का तेल भी मुझे कुल्लू में ही मिल जाएगा।"

उसने चाय की प्याली मेरे हाथ में दे दी तो भी मेरे मुंह से कोई बात नहीं निकली, और मैं चुपचाप छोटे-छोटे घूंट भरने लगा। मेरे मन को उस समय एक तरह की जड़ता ने घेर लिया था। कहां मिस पाल के बारे में दिल्ली के लोगों से सुनी हुई वे सब बातें और कहां उसके जीवन की यह एकान्त विडम्बना!

ट्राउट मछली! मिस पाल की सारी परेशानी के बावजूद उस दिन उसे ट्राउट नहीं मिल सकी। पोस्टमास्टर ने बताया कि मछलीवाला उस दिन आया ही नहीं। मिस पाल के बहुत-बहुत खुशामद करने पर भी मकान-मालकिन का चौकीदार बाली दरिया से मछली पकड़ने के लिए राजी नहीं हुआ। उसने कहा कि वह अपनी छड़ी पालिश कर रहा है, उसे फुरसत नहीं है। मिसेज एटकिन्सन के बच्चों ने एक मछली पकड़ी थी। मगर उसके पति ने उस दिन खासतौर पर मछली की कतलियों के लिए कहा था, इसलिए वह अपनी मछली मिस पाल को नहीं दे सकती थी। हां, पोस्टमास्टर ने फ्रेंच बीन जरूर भेज दिए। चावल और सूखे फ्रेंच बीन! रात की रोटी के लिए मिस पाल का सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया। खाना बनाने में उसका मन भी नहीं लगा, जिससे चावल थोड़ा नीचे लग गए। खाना खाते समय मिस पाल बस अफसोस ही प्रकट करती रही।

"मैं बहुत बदकिस्मत हूं रणजीत, हर लिहाज से मैं बहुत ही बदकिस्मत हूं," खाना खाने के बाद हम लोग बाहर मैदान में कुर्सियां निकालकर बैठ गए तो उसने कहा। वह सिर के पीछे हाथ रखे आकाश की ओर देख रही थी। बारहीं या तेरहीं की रात होने से आकाश में तीन तरफ खुली चांदनी फैली थी। व्यास की आवाज वातावरण में एक गूंज पैदा कर रही थी। वृक्षों की सरसराहट के अतिरिक्त मैदान की घास से भी एक धीमी-सी सरसराहट निकलती प्रतीत होती थी। हवा तेज थी और सामने पहाड़ के पीछे से उठता हुआ बादल धीरे-धीरे चांद की तरफ सरक रहा था।

"क्या बात है मिस पाल, तुम इस तरह गुम-सुम क्यों हो रही हो?" मैंने कहा, "चावल थोड़े खराब हो गए, तो इस तरह इसमें उदास होने की क्या बात है!"

मिस पाल सामने पहाड़ की धुंधली रेखा को देखती रहीं, जैसे उसमें कोई चीज खोज रही हो।

"मैं सोचती हूं रणजीत कि मेरे जीने का कोई अर्थ नहीं है," उसने कहा।

और वह मुझे अपने आरम्भिक जीवन की कहानी सुनाने लगी। उसे बहुत बड़ी शिकायत थी कि आरम्भ में अपने घर में भी उसे जरा सुख नहीं मिला, यहां तक कि अपने माता-पिता का स्नेह भी उसे नहीं मिला। उसकी मां ने—उसकी अपनी मां ने—भी उसे प्यार नहीं किया। इसी वजह से पन्द्रह साल पहले वह अपना घर छोड़कर नौकरी करने के लिए निकल आई थी।

"सोचो, मां को मेरा घर में होना ही बुरा लगता था। पिताजी को मेरे संगीत सीखने

से चिढ़ थी। वे कहा करते थे कि मेरा घर-घर है रंडीखाना नहीं। भाइयों का जो थोड़ा-बहुत प्यार था, वह भी भाभियों के आने के बाद छिन गया। मैंने आज तक कितनी-कितनी मुश्किल से अपनी अम्'''अ'''पवित्रता को बचाया है, यह मैं ही जानती हूं। तुम सोच सकते हो कि एक अकेली लड़की के लिए यह कितना मुश्किल होता है। मेरा लाहौर की तरफ घूमने जाने को मन था; वहां की कुछ तस्वीरें बनाना चाहती थी, मगर मैं वहां नहीं गई, क्योंकि मैं सोचती थी कि मर्द की पशु-शक्ति के सामने अम्'''अ'' मैं अकेली क्या कर सकूंगी। फिर, तुम्हें पता है कि डिपार्टमेंट के लोग वहां मेरे बारे में कैसी बुरी-बुरी बातें किया करते थे। इसीलिए मैं कहती हूं कि मुझे वहां के एक-एक आदमी से नफरत है। वे तुम्हारे बुखारिया और मिर्जा और जोरावर-सिंह। मैं तो कभी ऐसे लोगों के साथ बैठकर एक प्याली चाय भी पीना पसन्द नहीं करती थी। तुम्हें याद है, एक बार जब जोरावरसिंह ने मुझसे कहा था'''"

और फिर वह दफ्तर के जीवन की कई छोटी-छोटी घटनाएं दोहराने लगी। जब मैंने देखा कि वह फिर से उसी वातावरण में जाकर खामखाह अपना गुस्सा भड़का रही है तो मैंने उससे फिर कहा कि वह अब दफ्तर के लोगों के बारे में न सोचे, अपने संगीत और अपने चित्रों की बात ही सोचे।

"तुम यहां रहकर कुछ अच्छी-अच्छी चीजें बना लो, फिर दिल्ली आकर अपनी प्रदर्शनी करना।" मैंने कहा, "जब लोग तुम्हारी चीजें देखेंगे और तुम्हारा नाम सुनेंगे तो अपने-आप तुम्हारी कद्र करेंगे।

"न, मैं प्रदर्शनी-अदर्शनी के किसी चक्कर में नहीं पड़ूंगी।" मिस पाल उसी तरह सामने की तरफ देखती हुई बोली, "तुम जानते ही हो इन सब चीजों में कितनी पालिटिक्स चलती है। मैं उस पालिटिक्स में नहीं पड़ना चाहती। मेरे पास अभी तीन-चार हजार रुपये हैं, इनमें मेरा काफी दिन गुजारा चल जाएगा। जब ये रुपये चुक जाएंगे, तो'''" और वह जैसे कुछ सोचती हुई चुप कर गई।

मैं आगे की बात सुनने के लिए बहुत उत्सुक था। मगर मिस पाल कुछ देर बाद कंधे हिलाकर बोली, "'''तो भी कुछ न कुछ हो ही जाएगा। अभी वह वक्त आए तो सही।"

बादल ऊंचा उठ रहा था और वातावरण में ठंडक बढ़ती जा रही थी। जंगल की तरफ से आती हुई हवा की गूंज शरीर में बार-बार सिहरन भर देती थी। साथ के कॉटेज में रेडियो पर पश्चिमी संगीत चल रहा था। उसके आगे के कॉटेज में लोग खिलखिलाकर हंस रहे थे। मिस पाल अपनी आंखें मूंदे हुए मुझे बताने लगी कि होशियारपुर में उसने भृगुसंहिता से अपनी कुण्डली निकलवाई थी। उस कुण्डली के फल के अनुसार इस जन्म में उसपर यह शाप है कि उसे कोई सुख नहीं मिल सकता—न धन का, न ख्याति का, न प्यार का। इसका कारण भी भृगु-संहिता में दिया था। अपने पिछले जन्म में वह सुन्दर लड़की थी और नृत्य-संगीत आदि कलाओं में बहुत पटु थी। उसके पिता बहुत धनी थे और वह उनकी अकेली संतान थी। जिस व्यक्ति से उसका ब्याह हुआ वह बहुत सुन्दर और धनी था। "मगर मुझे अपनी सुन्दरता और अपनी कला का बहुत मान था, इसलिए मैंने अपने पति का आदर नहीं किया। कुछ ही दिनों में वह बेचारा दुःखी होकर इस संसार से चल बसा। इसीलिए मुझपर अब यह शाप है कि इस जन्म में मुझे सुख नहीं मिल सकता।"

मैं चुपचाप उसे देखता रहा। अभी दिन में ही वह वहां के लोगों के अंधविश्वासों की

चर्चा करती हुई उनका मजाक उड़ा रही थी। सहसा मिस पाल भी बोलते-बोलते चुप कर गई और उसकी आंखें मेरे चेहरे पर स्थिर हो गईं। उसके लिपस्टिक से रंगे हुए ओंठों की तह में जैसे उस समय कोई चीज कांप रही थी। काफी देर हम लोग चुप बैठे रहे। बादल ने चांद को छा लिया था और चारों तरफ गहरा अंधेरा हो रहा था। सहसा साथ के कॉटेज की बत्ती भी बुझ गई, जिससे अंधेरा और भी गहरा लगने लगा।

मिस पाल उसी तरह मेरी तरफ देख रही थी। मुझे महसूस होने लगा कि मेरे आसपास की हवा कुछ भारी हो रही है। मैं सहसा कुर्सी पीछे सरकाकर उठ खड़ा हुआ।

"मेरा खयाल है, अब रात काफी हो गई है," मैंने कहा, "इसलिए अब चलकर सो रहा जाए। और बातें अब सुबह होंगी।"

"हां-हां," मिस पाल भी अपनी कुर्सी से उठती हुई बोली, "मैं अभी चलकर बिस्तर बिछा देती हूं। तुम बताओ, तुम्हारा बिस्तर बरामदे में बिछा दूं या..."

"हां, बरामदे में बिछा दो। अन्दर काफी गरमी होगी।"

"देख लो, रात को ठंड हो जाएगी।"

"कोई बात नहीं, बरामदे में हवा आती रहेगी तो अच्छा लगेगा।"

और बरामदे में लेटे हुए मैं देर तक जाली के बाहर देखता रहा। बादल पूरे आकाश में छा गया था और दरिया का शब्द बहुत पास आया-सा लगता था। जाली से लगा हुआ मकड़ी का जाला हवा से हिल रहा था। पास ही कोई चूहा कोई चीज कुतर रहा था। अन्दर कमरे से बार-बार करवट बदलने की आवाज सुनाई दे जाती थी।

"रणजीत !" अन्दर से आवाज आई तो मेरे सारे शरीर में एक सिहरन भर गई।

"मिस पाल !"

"सरदी तो नहीं लग रही ?"

"नहीं, बल्कि हवा है, इसलिए अच्छा लग रहा है।"

और तभी टप्-टप्-टप्-टप् मोटी-मोटी बूंदें पड़ने लगीं। पानी की बौछार मेर बिस्तर पर आने लगी तो मैंने करवट बदली। बरामदे की बत्ती मैंने जलती रहने दी थी, इसलिए कई चीजें इधर-उधर बिखरी नजर आ रही थीं। बिस्तर बिछाते समय मिस पाल को घर की काफी उथल-पुथल करनी पड़ी थी। चारपाई के पास ही एक तिपाई औंधी पड़ी थी और उससे जरा आगे तस्वीरों के कुछ-एक फ्रेम रास्ते में गिरे थे। सामने के कोने में मिस पाल के ब्रश और कपड़े एक ढेर में उलझे हुए पड़े थे।

अन्दर की चारपाई चिरमिराई और लकड़ी के फर्श पर पैरों की धप्-धप् आवाज सुनाई देने लगी। फिर सुराही से चुल्लू में पानी पीने की आवाज आने लगी।

"रणजीत !"

"मिस पाल !"

"प्यास तो नहीं लगी ?"

"नहीं।"

"अच्छा, सो जाओ।"

कुछ देर मुझे लगता रहा जैसे मेरे आस-पास एक बहुत तेज सांस चल रही है जो धीरे-धीरे दबे पैरों, सारे वातावरण पर अधिकार करती जा रही है, और आसपास की हर चीज अपने पर

उसका दबाव महसूस कर रही है। पानी की बौछार कुछ धीमी पड़ने लगी तो मैंने फिर से जाली की करवट बदल ली और पहले की तरह ही बाहर देखने लगा। तभी पास ही झन्न से किसी चीज के गिरने की आवाज सुनाई दी।

"क्या गिरा है रणजीत ?" अन्दर से आवाज आई।

"पता नहीं, शायद किसी चूहे ने कुछ गिरा दिया है।"

"सचमुच मैं यहां चूहों से बहुत तंग आ गई हूं।"

मैं चुप रहा। अन्दर की चारपाई फिर चिरमिराई।

"अच्छा सो जाओ !"

सारी रात पानी पड़ता रहा। सुबह-सुबह, वर्षा थम गई, मगर आकाश साफ नहीं हुआ। सुबह उठकर चाय के समय तक मेरी मिस पाल से खास बात नहीं हुई। चाय पीते समय भी मिस पाल अधूरे-अधूरे टुकड़ों में ही बात करती रही। मैंने उससे कहा कि मैं अब पहली बस से चला जाऊंगा तो उसने एक बार भी मुझसे रुकने के लिए आग्रह नहीं किया। यूं साधारण बातचीत में भी मिसपाल काफी तकल्लुफ बरत रही थी, जैसे किसी बिल्कुल अपरिचित व्यक्ति से बात कर रही हो। मुझे उसका सारा व्यवहार बहुत अस्वाभाविक लग रहा था। वह जैसे बात न करने के लिए ही अपने को छोटे-छोटे कामों में व्यस्त रख रही थी। मैंने दो-एक बार उससे हल्के से मजाक करने का भी प्रयत्न किया जिससे तनाव हट जाए और मैं उससे ठीक से विदा लेकर जा सकूं, मगर मिस पाल के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट भी नहीं आई।

अच्छा तो मिस पाल, अब चलने की बात की जाए," आखिर मैंने कहा, "तुम कह रही थीं कि तुम भी कुल्लू तक साथ ही चलोगी तो अच्छा होगा कि तुम आज ही वहां से अपना सारा सामान भी ले आओ। बाद में तुम फिर आलस कर जाओगी।"

"नहीं, मैं आलस नहीं करूंगी," मिस पाल बोली, "किसी दिन जाकर जो-जो कुछ लाना है सब ले आऊंगी।"

और फिर बरामदे में बिखरे हुए कपड़ों को बिना मतलब ही उठाकर इधर से उधर रखते हुए उसने कहा, "आज बरसात का दिन है, इसलिए आज नहीं जाऊंगी। कल या परसों किसी समय देखूंगी लाने के लिए कितनी चीजें हैं, इसलिए अच्छी तरह सब सोचकर जाना चाहिए। आज घिरा हुआ दिन है, इसलिए आज नहीं···"

"घिरा हुआ दिन है तो क्या घर का सामान नहीं आएगा ?" मैंने अपने आग्रह से उसे सुलझाने की चेष्टा करते हुए कहा, "तुम मुझे बताओ कि घी और तारपीन के डिब्बे कहां रखे हैं। कोई बड़ा थैला हो तो वह भी साथ में ले लो। फुटकर चीजें उसमें आ जाएंगी। यहां से जो भी बस मिलेगी, उसमें हम लोग साथ-साथ चले चलेंगे। मैं कुल्लू से बारह बजे की बस पकड़कर आगे चला जाऊंगा। तुम्हें तो उधर से लौटने के लिए सारा दिन बसें मिलती रहेंगी।"

मैं जान-बूझकर इस तरह बात कर रहा था जैसे मिसपाल के साथ चलना निश्चित ही हो, हालांकि मैं जानता था कि वह टालने का पूरा प्रयत्न करेगी। मिसपाल इधर से उधर जाती हुई ढूंढ़-ढूंढ़कर अपने करने के लिए काम निकाल रही थी। उसके चेहरे से लग रहा था जैसे मेरी बातें उसे बिल्कुल व्यर्थ लग रही हों और वह जल्द-अज़-जल्द अपने एकान्त में लौट जाना चाहती हो।

"देखो, कभी-कभी यहां बस में एक भी सीट नहीं मिलती," उसने कहा, "दो-दो सीटें मिलना तो बहुत ही मुश्किल है। तुम मेरी बजह से अपनी बारह बजे की बस क्यों मिस करते हो? तुम चले जाओ, मैं कल या परसों जाकर जो कुछ भी मुझे लाना है ले आऊंगी।" और जैसे सहसा कोई काम याद आ जाने से वह जल्दी से अपना चेहरा दूसरी तरफ हटाए हुए कमरे में चली गई। कुछ देर में वह पेटीकोट लिए हुए कमरे से बाहर आई। पेटीकोट को टिड्डियां काट गई थीं। उसने जैसे नुकसान की परेशानी की बजह से ही चेहरा सख्त किए हुए उसे एक तरफ कोने में फेंक दिया और किसी तरह कठिनाई से बोली, "मैंने तुमसे कह दिया है कि तुम चले जाओ। तुम्हें पता है कि मुझे तो अकेली को ही दो सीटें चाहिए।"

"ये सब बहाने तुम रहने दो," मैंने कहा। "एक बस में जगह नहीं मिलेगी तो दूसरी में मिल जाएगी। तुम इधर आकर मुझे बताओ कि वे डिब्बे कहां रखे हैं।"

मिस पाल शायद ज्यादा बात नहीं करना चाहती थी, इसलिए उसने मेरी बात का विरोध नहीं किया।

"अच्छा तुम बैठो, मैं अभी ढूंढ़ती हूं," उसने कहा और आंखें बचाती रसोईघर में चली गई।

पहली बस में सचमुच हम लोगों को जगह नहीं मिली। ड्राइवर ने बस वहां रोकी ही नहीं, और हाथ के इशारे से कह दिया कि बस में जगह नहीं है। दूसरी बस में भी जगह नहीं थी, मगर किसी तरह कह-कहाकर हमने उसमें अपने लिए जगह बना ली। मगर हम कुल्लू काफी देर में पहुंचे। क्योंकि रात की बरसात से एक जगह सड़क टूट गई थी और उसकी मरम्मत की जा रही थी। हमारे कुल्लू पहुंचने के लगभग साथ ही बारह बजे की बस भी मनाली से आ पहुंची पौने बारह हो चुके थे। मैंने अन्दर जाकर अपने सामान का पता किया, फिर बाहर मिस पाल के पास आ गया। मिस पाल ने खाली डिब्बे अपने दोनों हाथों में संभाल रखे थे। मैं डिब्बे उसके हाथों से लेने लगा तो उसने अपने हाथ पीछे हटा लिए।

"चलो, पहले बाजार में चलकर तुम्हारा सामान खरीद लें," मैंने कहा।

"अब सामान की बात रहने दो," उसने कहा। "तुम्हारी बस आ गई है, तुम इसमें चले जाओ। सामान तो मैं किसी भी समय खरीद लूंगी। तुम्हें इसके बाद फिर किसी बस में जगह नहीं मिलेगी। दो बजे की बस मनाली से ही भरी हुई आती है। तुम्हारा एक दिन और यहां खराब होगा।"

"दिन खराब होने की क्या बात है," मैंने कहा "पहले चलकर बाजार से सामान खरीद लेते हैं। अगर आज सचमुच किसी बस में जगह नहीं मिली तो मैं तुम्हारे साथ लौट चलूंगा और कल किसी बस से चला जाऊंगा। मुझे वापस पहुंचने की ऐसी कोई जल्दी नहीं है।"

"नहीं तुम चले जाओ," मिस पाल हठ के साथ बोली, "अपने लिए खामखाह मैं तुम्हें क्यों परेशान करूं? अपना सामान तो मैं जब कभी भी ले लूंगी।"

"मगर मुझे लगता है कि आज तुम ये डिब्बे इसी तरह लिए हुए ही लौट जाओगी।"

"अरे नहीं," मिस पाल की आंखें उमड़ आईं और वह अपने आंसुओं को रोकने के लिए दूसरी तरफ देखने लगी, "तुम समझते हो मैं अपने शरीर की देखभाल ही नहीं करती। अगर न करती तो यह इतना शरीर ऐसा ही होता?...लाओ पैसे दो मैं तुम्हारा टिकट ले आती हूं। देर करोगे तो इस बस में भी जगह नहीं मिलेगी।"

"तुम इस तरह जिद क्यों करती हो मिस पाल ? मुझे जाने की सचमुच ऐसी कोई जल्दी नहीं है।" मैंने कहा।

"मैंने तुमसे कहा है, तुम पैसे निकालो, मैं तुम्हारा टिकट ले आऊं। मगर नहीं, तुम रहने दो। कल का तुम्हारा टिकट मेरी बजह से खराब हुआ था। मैं फिर तुमसे पैसे किसलिए मांग रही हूं ?"

और वह डिब्बे वहीं रखकर झटपट टिकटघर की तरफ बढ़ गई।

"ठहरो, मिस पाल," मैंने असमंजस में अपना बटुआ जेब से निकाल लिया।

"तुम रुको, मैं अभी आ रही हूं। तुम उतनी देर में अपना सामान निकलवाकर ऊपर रखवाओ।

मेरा मन उस समय न जाने कैसा हो रहा था, फिर भी मैंने अन्दर से अपना सामान निकलवाया और बस की छत पर रखवा दिया। मिसपाल तब तक टिकटघर के बाहर ही खड़ी थी। शनिवार होने के कारण उस दिन स्कूल में जल्दी छुट्टी हो गई थी और बहुत से बच्चे बस्ते लटकाए सुलतानपुर की पहाड़ी से नीचे आ रहे थे। कई बच्चे बस की सवारियों को देखने के लिए वहां आसपास जमा हो रहे थे। मिस पाल उस समय प्याजी रंग की सलवार-कमीज पहने थी और ऊपर काला दुपट्टा लिए थी। उन कपड़ों की वजह से उसका शरीर पीछे से और भी फैला हुआ लगता था। बच्चे एक-दूसरे से आगे होते हुए टिकटघर के नजदीक जाने लगे। मिस पाल टिकटघर की खिड़की पर झुकी हुई थी। एक लड़के ने धीरे से आवाज लगाई, "कमाल है भई कमाल है !"

इस पर आसपास खड़े बहुत-से बच्चे हंस दिए। मुझे लगा जैसे किसी ने मेरे भारी मन पर एक और बड़ा पत्थर डाल दिया हो। बच्चे सबके-सब टिकटघर के आसपास जमा हो गए थे और आपस में खुसर-पुसर कर रहे थे। मैं उनसे कुछ कह भी नहीं सकता था, क्योंकि उससे मिस पाल का ध्यान खामखाह उनकी तरफ चला जाता। मैं उधर से अपना ध्यान हटाकर दरिया की तरफ से आते हुए लोगों को देखने लगा। फिर भी बच्चों की खुसर-पुसर मेरे कानों में पड़ती रही दो लड़कियां बहुत धीरे-धीरे आपस में बात कर रही थीं, "मर्द हैं।"

"नहीं, औरत है।"

"तू सिर के बाल देख, बाकी शरीर देख। मर्द हैं।"

"तू कपड़े देख, और सब कुछ देख। औरत है।"

आओ बच्चो आओ, पास आकर देखो," मिस पाल की आवाज से मैं जैसे चौंक गया। मिस पाल टिकट लेकर खिड़की से हट आई थी। बच्चे उसे आते देखकर 'आ गई, आ गई' कहते भाग खड़े हुए। एक बच्चे ने सड़क के उस तरफ जाकर फिर जोर से आवाज लगाई, "कमाल है भई कमाल है !"

मिस पाल सड़क पर आकर कई कदम बच्चों के पीछे चली गई।

"आओ बच्चो, यहां हमारे पास आओ," वह कहती रही, "हम तुम्हें मारेंगे नहीं, टाफियां देंगे। आओ..."

मगर बच्चे पास आने के बजाय और भी दूर भाग गए। मिस पाल कुछ देर सड़क के बीच रुकी रही, फिर लौटकर मेरे पास आ गई। उस समय उसके चेहरे का भाव बहुत विचित्र लग रहा था। उसकी आंखों में आए हुए आंसू नीचे गिरने को हो रहे थे और उन्हें झुठलाने के

लिए एक फीकी हंसी का प्रयत्न कर रही थी। उसने अपने होंठों को जाने किसत रह काटा था कि एकाध जगह से उसकी लिपस्टिक नीचे फैल गई थी। उसकी घिसी हुई कमीज की सीवनें कंधे के पास से खुल रही थीं।

"खूबसूरत बच्चे थे, नहीं ?" उसने आंखें झपकाते हुए कहा।

मैंने उसकी बात का समर्थन करने के लिए सिर हिलाया तो मुझे लगा कि मेरा सिर पत्थर की तरह भारी हो गया है। उसके बाद मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि मिस पाल मुझसे क्या कह रही है और मैं उससे क्या बात कह रहा हूं जैसे आंखों और शब्दों के साथ विचारों का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा था। मुझे इतना याद है कि मैंने मिस पाल को टिकट के पैसे देने का प्रयत्न किया, मगर वह पीछे हट गई और मेरे बहुत अनुरोध करने पर भी उसने पैसे नहीं लिए। मगर किस अवचेतन प्रक्रिया से हम लोगों के बीच अब तक बातचीत का सूत्र बना रहा, यह मैं नहीं जान सका। मेरे कान उसे बोलते सुन रहे थे और अपने को भी। परन्तु वे जैसे दूर की ध्वनियां थीं—अस्फुट, अस्पष्ट और अर्थहीन। जो बात मैं ठीक से सुन सका वह यही थी, "और वहां जाकर रणजीत दफ्तर में मेरे बारे में किसी से बात मत करना। समझे ? तुम्हें पता ही है कि वे लोग कितने ओछे हैं। बल्कि अच्छा होगा कि तुम किसी को यह भी न बताओ कि तुम मुझे यहां मिले थे। मैं नहीं चाहती कि वहां कोई भी मेरे बारे में कुछ जाने या बात करे। समझे।"

बस तब स्टार्ट हो रही थी और मैं खिड़की से झांककर मिस पाल को देख रहा था। बस चली तो मिस पाल हाथ हिलाने लगी। दोनों खाली डिब्बे वह अपने हाथों में लिए हुए थी। मैंने भी एक बार उसकी तरफ हाथ हिलाया और बस के मुड़ने तक हिलते हुए खाली डिब्बों को ही देखता रहा।

इवलिन

□ जेम्स जॉयस

अनुवाद : इंदुप्रकाश कानूनगो

पेड़ों से घिरे रास्ते पर छा रही शाम को वह खिड़की से ताक रही थी। सिर खिड़की के पर्दों पर झुका था, नथनों में धूल सने प्रिंटेड काटन की गंध भर गयी थी। वह बेहद थकी हुई थी।

कुछ लोग सामने से गुज़रे। कोने के मकान से निकला आदमी घर जाने के लिए सड़क पर आया, फुटपाथ पर कदमों की खट-खट, फिर नये लाल मकानों के सामने रेतीले रास्ते पर चरमराहट को उसने सुना। कभी वहां मैदान था जहां दूसरे बच्चों के साथ हर शाम वे खेलते। फिर बेलफास्ट से आए किसी आदमी ने खेत खरीदकर मकान बना दिए—उनके छोटे-छोटे भूरे घरों जैसे नहीं बल्कि चमकीली छतों वाले चमकती-ईंटों के मकान। पेड़ों से घिरे घरों के तीनों परिवारों के-डेविने, वाटर्स, ड्यून्स के बच्चे, लंगड़ा केऑघ, वह, और भाई बहिन खेत में साथ खेलते। अर्नेस्ट, हालांकि, कभी नहीं खेला : ज़रा ज्यादा बड़ा था। पिता प्रायः उन्हें खोजकर कंटीली बेंत फटकारते खेत के बाहर खदेड़ते, हालांकि छुटका केऑघ नज़र रखता, पिता की आहट आते ही सबको चेता देता। लेकिन उन दिनों वे खुश थे, पिता इतने बुरे नहीं थे, फिर मां भी जीवित थी। बहुत पुरानी बात थी यह, फिर वह और भाई बहिन बड़े हो गए, मां चल बसी। टिज्जी ड्यून भी नहीं रहा, और वाटर-परिवार इंग्लैंड लौट गया। सब बदल जाता है। वह भी तो औरों की तरह अपना घर छोड़ कहीं और चली जाएगी !

घर ! उसने कमरे पर नज़र फिरायी, सारी जानी-पहचानी चीज़ों पर जिन्हें वर्षों से हर हफ्ते झाड़ती-पोंछती, अक्सर चकराती, आखिर इतनी धूल कहां से आती ! शायद उन जानी-चीन्हीं चीज़ों को फिर नहीं देख पाएगी जिनसे अलग होने का उसे कभी ख्याल नहीं आया। हां लेकिन टूटे हारमोनियम के ऊपर फ्रेम में टंगी पूजनीय मार्गरेट मेरी अलाकोख के नाम रंगीन अक्षरों में छपी प्रार्थना की बाजू में वर्षों से जिन पादरी महाशय की तस्वीर धुंधला रही है उनका नाम अब तक नहीं जान पायी। वे पिता के बचपन के मित्र थे। पिता जब कभी किसी मेहमान को तस्वीर दिखाते तब चलते फिरते कह देते :

—वे अब मेलबोर्न में हैं।

वह अपना घर छोड़ जाने को राजी हो गयी है। ठीक कर रही है ना ? उसने सवाल के हर पहलू पर गौर किया। यहां वह सुरक्षित है, खाती पीती है, आस-पास वे सब हैं जिन्हें वर्षों से जानती रही है। हां, काम उसे कस कर करना पड़ता है, घर में, नौकरी में भी। स्टोअर में वे क्या कहेंगे जब पता चलेगा कि किसी यार के साथ भाग गयी ? मूर्ख लड़की !—शायद, और

विज्ञापन से खाली जगह भर देंगे ? मिस गेवान बड़ी खुश होगी। अक्सर उस पर तनी रहती है, खासकर जब ग्राहक सामने हों।

—मिस हिल, ज़रा जल्दी हाथ बढ़ाओ, लेडीज़ कब से खड़ी हैं ?

—मुस्कराते हुए, मिस हिल, प्लीज़।

नौकरी छूटने का उसे ज़रा अफसोस नहीं होगा।

नये घर में, दूर अनजान देश में यह सब नहीं होगा। वह विवाहित होगी—हां। लोग उसके साथ आदर से बात करेंगे। उसके साथ वैसा व्यवहार नहीं होगा जैसा मां के साथ हुआ। आज भी जब उन्नीस पार कर चुकी, पिता की सख्ती से खौफ खाती है। उसी से उसकी सांस फूल जाती है। जब वे बड़े हो रहे थे उन्होंने कभी उसकी परवाह नहीं की, जैसी हैरी और अर्नेस्ट की करते, क्योंकि वह लड़की जो ठहरी ! बाद में तो धमकाने ही लगे कि जो कुछ उसके लिए करेंगे, केवल मर चुकी मां की खातिर। अब तो उसका कोई रखवाला नहीं है। अर्नेस्ट चल बसा। हैरी गिरजे की साज-सज्जा का बिज़िनेस करने लगा है। प्रायः व्यस्त रहता है। और फिर हर शनिवार की रात पैसों को लेकर अक्सर चलती कहा-सुनी से वह तंग आ गयी है। वह अपनी सारी आय देती—सात शिलिंग—हैरी भी, जो मिलता उसे भेजता। लेकिन पिता से कुछ भी पाना मुश्किल रहता। कहते, पैसा उड़ाती है, अक्ल नहीं है, मुश्किल से कमाये अपने पैसे सड़क पर फैंकने के लिए कभी नहीं देंगे, और भी जाने क्या कहते। क्योंकि अमूमन शनिवार की रात वे कुछ ज़्यादा ही तने होते। बहुत खीज कर पैसा देते, चिल्लाते, रविवार को खाना बनेगा कि नहीं? तत्काल बाज़ार दौड़ती, काला लेदर-पर्स कस कर पकड़े, भीड़ में रास्ता निकालती हुई, और सौदा लेकर थैलियों का बोझ उठाये वापस आती। घर जमा रखने में बेहद काम करना पड़ता, जिम्मे रखे गये दोनों छोटे बच्चों का खयाल रखना पड़ता, उन्हें नियम से स्कूल भेजना, नियम से खाना देना पड़ता। कितना काम—कितने मुश्किल हालात !···लेकिन अब कि जब घर छोड़ रही है, तब यह उतनी खराब ज़िंदगी नहीं लग रही।

लेकिन वह तो फ्रेंक के साथ नई ज़िंदगी की तलाश में है। फ्रेंक समझदार है, साहसी, खुले दिल वाला। नाइट-बोट में उसकी पत्नी बन ब्यूनेस आयर्स चली जाएगी, जहां एक घर उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसे वह क्षण खूब याद है जब पहली बार वह मिला था, मेन रोड के मकान में, जहां वह आती-जाती थी। कुछ ही हफ्ते की बात है। वह दरवाज़े पर खड़ा था, सिर पर नुकीली टोपी और सोने-से दमकते कपाल पर घुंघराये बाल। धीरे-धीरे उन्होंने एक-दूसरे को जान लिया। हर शाम स्टोअर के बाहर प्रतीक्षा करता, उसे घर तक छोड़ता। एक दिन 'दि बोहेमियन गर्ल' दिखाने ले गया। ऊंची सीट पर बैठ शो देखने में उसे बड़ा गौरव अनुभव हुआ। वह संगीत में रूचि रखता, गाता भी। लोग जानने लगे वे एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। जब गाता—'लड़की चाहती है नाविक को'—तो खुश होती, शरमा जाती। दिल्लगी में वह उसे पापिन्स कहता। शुरू में मित्र की तरह था। मैत्री से वह खुश रहती। फिर उसे चाहने लगी। वह दूर-दूर के देशों की कहानी कहता। अपना कैरियर केनेडा जाने वाले एल्लान-लाइन के जहाज में एक पौंड प्रति माह के वेतन पर शुरू किया। जिन जहाजों और जहाज-कम्पनियों में नौकरियां कीं उनके नाम बताये। उसके जहाज ने मेगेल्लान की खाड़ियों को पार किया। उसने दुर्दांत पेटागोनिअन्स की कहानियां सुनाईं। ब्यूनेस आयर्स में अपने पैरों खुद खड़ा हुआ। पुराने वतन में छुट्टियां मनाने आया है, उसने बताया। हां, पिता को इस चक्कर का जब पता चला

उन्होंने आगे बढ़ने से रोक दिया।

—मैं इन सैलानियों के बारे में खूब जानता हूं, उन्होंने कहा।

एक दिन फ्रेंक को डांट दिया, तब से उससे छिपकर मिलने लगी।

पेड़ों से घिरे मोहल्ले में शाम घनी हो गयी। दोनों सफेद चिट्ठियां, हैरी के और पिता के नाम, गोद में पड़ी धुंधला गयी। अर्नेस्ट को खूब चाहती थी, हैरी को भी कम नहीं। पिता ज़्यादा ही बुढ़ा गए हैं, उसे लगा, उन्हें उसकी विदाई बड़ी खलेगी। कभी वे बहुत खुशमिजाज रहते। अभी-अभी जब वह एक दिन बीमार-सी हो गयी थी उन्होंने भूत की कहानी पढ़कर सुनायी और टोस्ट सेंक कर दिया। और हां, उस दिन, मां ज़िन्दा थी तब, घर के सब लोग हिल-आफ-हाउथ पर पिकनिक मनाने गए थे। उसे याद आया कैसे पिता ने मां की टोपी पहन सबको हंसाया था।

उसका समय तेज भाग रहा था, लेकिन वह खिड़की से चिपकी बैठी रही, पर्दों पर सिर टिकाए, धूल सने प्रिंटेड काटन की गंध लेती हुई। दूर कहीं पेड़ों के बीच स्ट्रीट-आर्गन की ध्वनि सुनाई दी। हवा जानी पहचानी थी। जाने क्यूं, आज की ही रात वह मां को दिये अपने वचन याद दिलाने आयी—जब तक बन सके घर संभाल कर रखना है। मां की बीमारी की आखिरी रात याद आयी, वह बंद अंधेरे कमरे में थी, हॉल की दूसरी ओर, और बाहर, इटली की उदास हवा की सरसराहट। आर्गन-प्लेयर को छः पैंस देकर आगे बढ़ने को कह दिया गया था। बीमार के कमरे में पिता ऐंठते हुए लौटे :

—साले इटालियन! चले आते हैं मुंह उठाये!

उसके ख्यालों में जीवन की इहलीला समाप्त करती मां का करुण दृश्य—रोज़मर्रा ज़िंदगी की कुर्बानियों की अंतिम झकझक का अंत—उभर आया। मां की आवाज़, भोली, लगातार आग्रह करती उसे दोबारा सुनाई दी :

—घर का ख्याल रखना! घर का ख्याल रखना!

वह कांप गयी।

आतंक के आवेग में सहसा उठी।...भाग जा! एकदम भाग! फ्रेंक बचा लेगा उसे। नई ज़िंदगी देगा, और खूब प्यार। वह जीना चाहती है। क्यों यूं ही खटती रहे? उसे भी खुश रहने का अधिकार है। फ्रेंक उसे बाजू में बसा लेगा, बांहों में थाम लेगा। उसकी रक्षा करेगा।

•

वह नार्थ वाल स्टेशन पर बहती भीड़ के बीच खड़ी थी। उसने उसके हाथ में हाथ डाल रखा था और समुद्री रास्ते के बारे में बार-बार बताता जा रहा था। स्टेशन भूरे बैग थामे सैनिकों की हलचल से भरपूर था। चौड़े दरवाज़े के पार उसे बोट की काली दीवार दिखाई दी, घाट से सटी, उजालदानों से रोशनी बिखेरती। उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसे अपना गाल सूखा और ठंडा लगा। अपनी व्यथा की उलझन में उसने भगवान को याद किया—दिशा दो, बताओ मेरा कर्त्तव्य!...बोट ने धुंध में दर्द भरी सीटी की चीख भरी।...यदि चल दी तो कल फ्रेंक के साथ ब्यूनेस आयर्स की ओर जाते जहाज में होगी। उनका टिकिट बुक हो गया है। उसके-लिए उसने जो कुछ किया उससे कैसे मुंह मोड़ ले? व्यथा से उसके बदन में उबकाई भर आयी, उसके होंठ भक्तिमय प्रार्थना में हिलने लगे।

घंटी की एक टन उसके हृदय में गूंजी। उसे अपना हाथ पकड़ खींचते फ्रेंक का स्पर्श महं-

सूस हुआ :

—चलो !

उसकी छाती में संसार के सारे सागरों की हिल्लोल उठी। वह उसे उनमें से बहा ले जा रहा था : ओह, गिरा न दे ! उसने साइड रेलिंग को दोनों हाथों से कसकर पकड़ लिया।

—चलो !

नहीं ! नहीं ! नहीं ! यह असंभव है। उसके हाथ रेलिंग पर उन्माद से कस गए। उसने समुद्र के ऊपर अथाह वदना से कराह भरी।

—इवलिन ! इव्वी ! चलो !

वह दौड़कर लौटा, सारे बैरियर उलांघता, उसे अपने पीछे चले आने को पुकारता। जबकि बोट पर चढ़ने के लिए उसे पुकारती दूसरी आवाज़ें आती रहीं; लेकिन वह चिल्लाता गया—चलो, इवलिन चलो ! मगर उसने किसी पशु की भांति भावहीन अपना सफेद चेहरा उसकी आंखों में गड़ा दिया। उसकी अपनी नजरों से प्रेम की, विदा की, या पहचान की सारी सूरतें मिट गयीं।

कहानी

मकान

□ रामदरश मिश्र

"आपका मकान इतना बड़ा है एक भाग किराये पर क्यों नहीं उठा देते ?" मेरे एक दुनियादार मित्र ने सलाह दी ।

"धन्यवाद भाई आपकी अच्छी सलाह के लिए ।"

"लेकिन धन्यवाद तो मेरी बात का उत्तर नहीं हुआ । पैसे की तंगी सहते हैं और इतना बड़ा मकान खुद ही छेंके हुए बैठे हैं ।"

"कितना बड़ा मकान है भाई । अरे धीरे-धीरे इसे अपने परिवार के काम भर का बनवाया है । कोई कमरा खाली है क्या ? और खाली भी हो तो किराये पर नहीं दूंगा ।"

"क्यों ?" उन्होंने सवालिया निगाह से मुझे देखा ।

मैं मुस्कराया और उनसे पूछा—"अच्छा बताइये, आपके किरायेदार आपको गाली क्यों देते हैं ?"

"अरे वे सब लुच्चे-लफंगे हैं ?"

"यानी आप भले आदमी हैं ।"

"अच्छा तो अपनी भलमनसाहत का प्रमाणपत्र देना होगा मुझे ।"

"नहीं-नहीं, आप भले आदमी हैं, यह मुझसे अधिक कौन जानेगा लेकिन आपका दोष यही है न कि आप मकान मालिक भी हैं ।"

"यह दोष कैसे है ?"

"इसलिए कि भले आदमी होते हुए भी आप किरायेदारों की गाली पाते हैं ।"

"वे सब दुष्ट हैं इसलिए ।"

"नहीं इतना ही कारण नहीं है कारण यह भी है कि आप मकान-मालिक भी हैं और मकान-मालिक बनते ही भले आदमी की भी जाति बदल जाती है । आपको दिखायी पड़े या न पड़े आपके भीतर से क्रूरता और दंभ का एक नया रंग उभरने लगता है । मैं नहीं चाहता कि मकान-मालिक बनकर उस क्रूरता और दंभ के रंग में अपना भी रंग मिला दूं । और किरायेदारों द्वारा अपनी नींद हराम कराऊं ।"

मित्र चले गए और मुझे भले लगने वाले अपने पिछले मकान-मालिक याद आने लगे ।

शक्ति नगर का यह मकान मैं छोड़ आया था । यों तो अपनी नौकरी की यात्रा में कितने ही मकान पकड़े और छोड़े किन्तु इस मकान को छोड़ने का सुख यह था कि अब मैं अपने

मकान में आ गया था। किराये का हर नया मकान पकड़ते समय ही उसे छोड़ने का जो डर समाया रहता था, उससे मुक्ति मिली। यद्यपि मेरा मकान अभी अधबना था और रहने लायक नहीं था किन्तु किराये के सम्पूर्ण मकान से ज़्यादा आश्वस्ति दे रहा था। उसमें तमाम असुविधाएं थीं किन्तु उसमें गहरा अपनापन था।

मकान बनते-बनते ठहर गया था, क्योंकि आगे के निर्माण के लिए पैसे नहीं थे। मेरे कुछ मित्रों ने समझाया था—"देखिए चौधरी जी, आप 15 साल बाद मकान छोड़ रहे हैं, मकान-मालिक से कुछ वसूलते क्यों नहीं ?" उन्होंने अनेक लोगों के उदाहरण भी पेश किए। मैंने उनका प्रतिरोध करते हुए कहा—"क्या कहते हैं आप ? मकान-मालिक ने 15 साल तक अपने मकान में रहने दिया, कोई अपराध किया क्या ? इनसे पैसा क्यों वसूल करूं ? दूसरों से मुफ्त पैसा वसूल करने पर मेरा ज़मीर मुझे चैन से रहने देगा क्या ?" उन्होंने हार नहीं मानी और दूसरा दांव फेंका—"आखिर इसने आपको बेवजह हैरान-परेशान भी तो किया है। शराफत शरीफ आदमी के साथ दिखाई जाती है। ये हज़रत आपकी शराफत के हकदार कहां से हो गए ?"

"भाई, हैरानी अपनी जगह है और मुफ्त का पैसा वसूलना अपनी जगह।" मैंने मित्रों को चुप कर दिया और इस अधबने मकान की छत के नीचे आकर बैठ गया। कितना चैन है यहां ?

जब पिछले मकान में हम गए थे तो बहुत प्रसन्न थे। मकान-मालिक राकेश वर्मा और मकान-मालकिन से पहचान कुछ समय पहले ही गयी थी और हम प्रायः मिलते रहते थे। उनके व्यवहार और वाणी से हमारे लिए रंग बरसता था। उन्होंने स्वयं प्रस्ताव रखा था कि उनके मकान के दो कमरे खाली होने वाले हैं। हम उनमें आ जायें तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। वे कमरे हमें भी पसन्द थे। जब वे कमरे खाली हुए, हम उस मकान में चले गए और चैन की सांस ली कि एक बहुत अच्छे मकान-मालिक का किरायेदार बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

मकान-मालिक और मालकिन का बड़ा प्यार मिला किन्तु शीघ्र ही उनका दूसरा रूप भी खुलने लगा। दोनों की आवाज में बहुत शक्ति थी और छोटी-से-छोटी बात में उनकी आवाज की शक्ति बज उठती थी। किस बात पर बज उठेगी, इसका अनुभव करना कठिन था। इस प्रकार जब ये खुश होते थे या प्रीति का इजहार करते थे तो लगता था कि वे खुद पिघल कर बह रहे हैं और उनके स्नेहातिरेक से ऊब होने लगती थी।

वैसे हमारी उनकी टकराहट नहीं थी। वे ऊपर की मंजिल में थे, हम नीचे की मंजिल में। बिजली-पानी के मीटर अलग-अलग थे, लेकिन वह मकान-मालिक क्या जो यों ही बात-बात में किरायेदार से न टकरा जाए। हम बाहर जाड़े की धूप में बैठे हैं और ऊपर से कोई जूठी चीज आकर ऊपर गिरे जा रही है। ऊपर देखने पर वह व्यक्ति गायब। पूछने पर एक चुप्पी। या कोई महिला नहाकर अपना झोंटा झाड़ती हुई ऊपर खड़ी है और उसकी बूंदें हमारे ऊपर चू रही हैं, या ऊपर रेलिंग पर गीली साड़ी फैला दी गयी है।

मकान-मालकिन बूढ़ी थीं किन्तु उनकी ऊर्जा का क्या कहना ? दिन-भर कुछ-न-कुछ करती रहती थीं किन्तु दिन-भर चाहे वे जो भी करती रही हों, जब तिजहर को हमारे आराम करने का समय होता था, वे बिना नागा मसाला कूटने लगती थीं—धम्म-धम्म, धम्म-धम्म। और लगता था कि मसाला हमारे सिर पर कूटा जा रहा है। एकाध बार कहा तो नाराज हो

गयीं और कूटने का क्रम और भी गाढ़ा हो गया।

मकान-मालिक और किरायेदार के बीच कोई बुनियादी समस्या हो तो उसे मिल-जुल-कर सुलझाया जा सकता है किन्तु यहां कोई मामला ही नहीं था। यहां तो मामला बनावटी था जो मकान-मालिक या मालकिन या उसके परिवार वालों की इच्छा से होता और रुकता रहता था। कभी उनका मन हुआ तो हमारे यहां आ गए, प्रेम-भरी बातों की गागर छलका गए और यह अहसास जगा गए कि ये लोग कितने प्यारे और भले हैं और कभी किसी छोटी-सी बात पर गरगराते हुए आ गए और हम चकित होकर देखते रह गए कि हमारी किस गलती ने इन्हें इतना उत्तेजित कर दिया है। होली का दिन था। मकान-मालिक मोहल्ले के कुछ और मकान-मालिकों के साथ खड़े होकर बातें कर रहे थे। अनंत ने उधर गुब्बारा फेंक दिया। बस क्या था, मकान-मालिक चिल्लाते हुए हमारे यहां आ धमके और जहर उगलने लगे। गुस्से में मैंने अनंत को दो झापड़ रसीद कर कहा—"बेवकूफ, तुम्हें गुब्बारा फेंकने के लिए और कोई आदमी नहीं मिला।" फिर उनसे भी कहा—"ठीक है, आपने मेरी होली तो खराब कर ही दी है, अब जाइए। चिल्ला ऐसे रहे हैं जैसे लड़के ने गुब्बारा नहीं गोली चला दी। होली के दिन गुब्बारा फेंकना ऐसा कोई गुनाह तो नहीं हो गया।"

पत्नी भी गुस्से में आ गयीं। उन्होंने जाते हुए मकान-मालिक को सुना कर कहा—"अपने तो ये लोग त्योहारों पर भी मातम मनाते रहते हैं। चाहते हैं दूसरे लोग भी मनाएं।" हमारे बच्चों के साथ इस परिवार के ऐसे अनेक संदर्भ जुड़े।

वास्तव में इस परिवार को कभी खुशी से त्योहार मनाते नहीं देखा। ये लोग तटस्थ दर्शक की तरह रेलिंग के पास या छत पर खड़े होकर सामने के पर्वों और त्योहारों के उल्लास-भरे दृश्यों को देखते रहते थे।

एक प्रसंग प्रायः घटित होता था। प्रमुख द्वार के पास लेटरबक्स बना था। डाकिया उसमें चिट्ठियां छोड़ जाता था। हम डाकिये को चिट्ठी छोड़ते देख लेते थे तो जाकर अपनी चिट्ठी छांट लेते थे और शेष उसमें छोड़ देते थे या जिसकी होती थी, उसे पुकार कर दे देते थे। वैसे प्रायः चिट्ठियां मेरी ही होती थीं, दूसरों की तो कभी-कभी ही होती थीं। किन्तु कभी-कभी मुझसे पहले लेटरबक्स के पास मकान-मालकिन पहुंच जाती थीं और सारी चिट्ठियां समेटकर ऊपर चली जाती थीं। उन्हें पढ़ना आता नहीं था, इसलिए घर का जब कोई व्यक्ति आता था तो चिट्ठियों की छंटाई होती थी और छंटाई भी क्या होनी थी, जब सारी चिट्ठियां मेरी ही थीं। दूसरे या तीसरे दिन वे चिट्ठियां लाकर लेटर-बक्स में डाल दी जातीं या कोई मुझे दे जाता। मैंने एक बार उन्हें मना किया कि आप पढ़ना नहीं जानतीं तो क्यों समेटती हैं चिट्ठियां। यह बात उन्हें बुरी लगनी ही थी और गुस्से में बड़बड़ाना ही था और क्रम जारी रखना ही था।

ऐसे न जाने कितने छोटे-छोटे प्रसंग हैं जो बुनियादी तौर पर कोई समस्या न होने पर भी हमें कौंचते रहते थे, हमारे बच्चों से भी टकराते रहते थे। इसी का परिणाम था कि कुछ साल बाद अनंत मकान-मालकिन पर पिल पड़ा। एक दिन मकान-मालिक गरगराते हुए आए और बोले—"अपने बेटे को संभालिए नहीं तो बहुत बुरा होगा। मकान तो खाली करना ही होगा, हम पुलिस-केस भी करेंगे।"

वे हमें साथ लेकर छत पर गए और कहा—"देखिए आपका बेटा हमसे हाथापाई कर

रहा है ।" बात यों हुई कि दिगंत छत पर पतंग उड़ाने गया । साथ में दो और किरायेदारों के बच्चे थे किन्तु उन सबको छोड़कर दिगंत के पतंग उड़ाने पर मकान-मालकिन ने ऐतराज किया। उसने केवल दिगंत को नीचे जाने को कहा। वह नीचे नहीं आया। फिर मकान-मालिक के पास शिकायत दागी गयी और वे पहुंच गए अपनी सहज मोटी आवाज में गरगराते हुए । उन्होंने जाते ही दिगंत की पतंग फाड़ दी और गाली देते हुए, उसे धक्का मारते हुए नीचे की ओर ठेलने लगे। वहीं अनंत भी पहुंच गया। उसने प्रतिवाद किया तो उन्होंने उसे भी डांटना शुरू किया। अनंत उनके अनेक दुर्व्यवहारों के कारण भीतर-भीतर उनके प्रति गुस्से से भरा हुआ था। उसने पतंग की चकली दिगंत के हाथ से अपने हाथ में ले ली और उसकी डोर में नयी पतंग बांधकर उड़ाने लगा। मकान-मालिक ने उसके हाथ से पतंग छीननी चाही तो उसने उन्हें धक्का देकर अलग कर दिया। उसे इस बात पर भी गुस्सा था कि दो लड़कों को छोड़कर केवल दिगंत को जाने को कहा जा रहा था। दरअसल, मेरे बच्चे मुझसे भी दुःखी थे। एक किरायेदार का बेटा बहुत शरारती था और प्रायः इस परिवार तथा अन्यों के साथ शरारतें करता रहता था लेकिन उसके पिता दबंग कसरती आदमी थे और शिकायत लेकर जाने वालों को डांटकर भगा देते थे। मैं ठीक इसके उलटा था। किसी की शिकायत पर बच्चों को डांटता था। अतः लोग शिकायत लेकर मेरे पास आने में बहुत सुविधा महसूस करते थे। यह बात मेरे बच्चों को भीतर-भीतर सालती थी। अनंत के रोष में यह बात आज साफ झलक रही थी।

जब मैं छत पर गया तो देखा अनंत का चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था। मेरे पहुंचते ही मकान-मालिक फिर अनंत से भिड़ गए और उसे नीचे जाने को कहने लगे। अनंत अनियंत्रित होकर उन पर पिल पड़ा। मैं उसे पीछे खींचने लगा लेकिन इस अवस्था में वह मेरे वश में नहीं आ रहा था। वह मुझसे छूट-छूटकर मकान-मालिक पर टूट पड़ रहा था और गुस्से से बोल रहा था—"आज इस बदमाश बुढ्ढे को नहीं छोडूंगा।"

मकान-मालिक के घर के लोग चिल्ला रहे थे—"अरे, मार डाला रे!" मकान-मालिक मुझे भी भला-बुरा कह रहे थे—"आपके सामने ही आपका कुपुत्र यह सब कर रहा है। मैं ये कर दूंगा, मैं वो कर दूंगा।"

मुझे भी क्रोध आ गया। ललकार कर कहा—"तुझे जो करना हो, कर लेना। तुझे लड़के से लड़ते हुए लाज नहीं आ रही है। मुझे यहां लाकर तू फिर लड़के से लड़ने लगा। तू लड़ेगा तो वह नहीं लड़ेगा? वह तो जवान हो रहा है। न जाने कब से तू इस लड़के के पीछे पड़ा है। अब तू समझ ले। मैं नहीं पड़ता इस बीच में। मैं नीचे जाता हूं।"

आखिर उन्होंने अनंत से अपना पिंड छुड़ा लिया। मैंने अनंत को नीचे चलने को कहा। उसने कहा—"मैं यहीं पतंग उड़ाऊंगा। देखूं, यह बुढ्ढा क्या कर लेता है? यह छत सबकी है।" आखिर किसी तरह उसे समझा-बुझाकर नीचे ले आया और मकान-मालिक अपनी पूरी पारिवारिक फौज के साथ हमारे यहां आए और पंचायत की धमकियां देने लगे। मैंने कहा—"पहले तो तुम मेरे कमरे में से निकल जाओ, फिर जो करना हो, करना। तुम्हारी छोटी-छोटी बेजा शिकायतों पर मैंने न जाने कितनी बार बच्चों को ताड़ित किया है, अब तुम्हें देख लूंगा। थाना-पुलिस, अंचायत-पंचायत जहां जाना हो, जाओ। आइन्दा इस कमरे में बिना मेरी अनुमति के न घुसना।"

वे गरगराते हुए चले गए और दो दिन तक पंचायत बटोरने के लिए बहुत सक्रिय रहे।

हम सब देखते रहे किन्तु वे पंचायत नहीं कर सके। शायद कुछ मकान-मालिकों ने हमारा पक्ष लेकर उन्हें उनकी गलती का अहसास करा दिया।

इन सब घटनाओं के बावजूद हमारे सम्बन्ध बने रहे। बल्कि यों कहा जाए कि ये घटनाएं आती-जाती रहती थीं। वे हमसे टूटते-जुड़ते रहते थे।

वास्तव में मैं मकान-मालिक के स्वभाव को भावुक मानता रहा और समझता रहा कि इनमें अन्य अनेक मकान-मालिकों की तरह हिंसक वृत्ति नहीं है। किसी के लगा-बुझा देने पर उत्तेजना में आ जाते हैं और कुछ दिन बाद स्वयं ही प्रशंसा करते आ जाते हैं और प्यार बरसाने लगते हैं। वैसे यह स्थिति ज्यादा खतरनाक है। जब आपकी इच्छा हुई, उत्तेजित हो उठे; जब आपकी इच्छा हुई, प्यार बरसाने लगे। उनके प्यार में हमें एक गिलगिलाहट अनुभव होने लगी थी और वे धीरे-धीरे एक हिंसक मनोवृत्ति वाले मकान-मालिक की अपेक्षा ज्यादा असह्य लगने लगे थे। उनकी इस असुन्दरता का बोध हमारे मित्रों को भी था। इसीलिए वे चाहते थे कि मैं मकान छोड़ते समय इनसे पैसे वसूलूं लेकिन मैं…।

मकान-मालिकों की असुन्दरता के कितने रंग देखे थे, एक रंग यह भी था। और आज मैं यह सोचकर परम आश्वस्ति अनुभव कर रहा था कि अब किसी मकान-मालिक की असुन्दरता का कोई नया रंग देखने को नहीं मिलेगा।

[आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059]

सूरज के पंख

□ राजीव इ० सिंह

सीढ़ियों पर पैरों की गूंज को वह पहचान जाती थी। इससे पहले कि दरवाजा खटखटाया जाए, वह पहले ही वहां तितली की तरह एक तरफ खड़ी हो जाती। तनिक-सा सिर झुकाकर दबा-सा स्वर निकालती, "नमस्ते सर।"

'धीरज सर' यह शब्द कितना उपयुक्त था। नीली अभी पिछले कुछ दिनों से इस बोध में जकड़ी जाती है, तो कितनी देर गए तक अपनी इस विजय पर उल्लास से उमड़ उठती है। विजय इसलिए कि पहले-पहल उसे धीरज को 'धीरज भईया' कहना पड़ता था, और अब उस छटपटाहट से मुक्ति है। क्योंकि उसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह उसे पढ़ाने आते हैं, और वह उन्हें 'धीरज सर' कहती है। यह उपलब्धि उसकी है—उसने 'भइया' से 'सर' कर दिया है। धीरज को बुने हुए ताने-बाने में वह सकुचाती रहती है। कौन जानेगा कि अपने 'सर' कहने के पीछे कोई राज छिपा है···कोई नहीं जान पाएगा, स्वयं धीरज भी नहीं।

नीली आज सोचती थी कि धीरज को सब कुछ कह देगी। क्या होगा···? वह विस्मय से देखेंगे। शायद कुछ भी न पूछ पाएं। परन्तु यदि उन्होंने झिड़क दिया तो ? उन्हें गुस्सा भी आ सकता है। वे बाऊ जी को भी बता सकते हैं। बाऊजी को उनके सामने शर्मिंदा होना पड़ जाएगा और मां का क्रोध···उफ।···नहीं वह ऐसा नहीं करेंगे चुप रहेंगे क्या पता उनके मन में भी मेरे लिए वही सब हो जो मेरे मन में उनके लिए है। पर उनकी गंभीर बातों से डर लगता है। सच, उनकी आंखों में कभी-कभी कैसी निकटता का एहसास मिलता है···अगर उस वक्त कुछ ऐसा-वैसा हुआ तो ?

जो भी हो, आज इतने दिनों से संजोई हुई बात कह ही दूंगी। आज जरूर कहूंगी··· नहीं तो सब कुछ लिखकर मर जाऊंगी···पता नहीं मरना कैसा होता है ?

···और तभी सीढ़ियों पर चलने की आवाज आती है। वह सकपकाई हुई सी वैसे ही दरवाजे पर आ खड़ी होती है।

धीरज हर सम्बन्ध से मुक्त होकर—नीली के चेहरे पर उतरी एक झिझकी हुई आभा को देखता है। उसके विजन की रेखाएं जैसे आपस में उलझ गई हों। वे ठिठके हुए खड़े रहते हैं। दोनों की दृष्टि क्षणों में टंगी हुई भीग-सी जाती है—लगता है, जैसे पूरा इतिहास बलखा गया हो।

धीरज की उंगली पन्ने पर किसी भटके हुए शब्द को ढूंढ़ने लगती है, तब नीली उनके नाखून के अन्दर बिछते-मिटते खून को देखती है, महीन-महीन बालों को निहारती है, नसों की

गोलाईयों में घूमती है। कमीज की सिकुड़न कैसे बार-बार एक दूसरे से उलझकर बनती-कटती है। गले के खुले बटन के अन्दर छाती के दो-चार भूरे बाल आगे को झुक आते हैं।'''वह अर्थ की शून्यता में घिरी हुई उसांस भरती है।

"सर" वह मानो आंखों से बोलती है। यह शब्द दोनों की चलती सांसों में खिंचा-सा रह जाता है।

"हां, क्या है?" वह पढ़ाते हुए रुक जाता है।

"वो जो'''मतलब'''" वह झटकती है।

धीरज मुस्कराता है—"ऐसा करो, पहले सोच लो ठीक से।"

नीली अपने में ही सिमट आई है।'''शायद वह क्षण कभी नहीं आएगा'''कभी नहीं''' शायद कभी नहीं'''

"सोच लिया?" कुछ क्षणों के बाद धीरज उसके मौन में आता है।

वह साहस बटोरती है, "जी वो, पाप क्या होता है?"

इतना कहकर वह जैसे किसी बोझ से कुछ मुक्त हो गई हो,

धीरज की झपकती हुई पलकें सहसा रुक जाती हैं। सचमुच, पाप क्या होता है? शायद उसे स्वयं भी नहीं पता। लेकिन नीली की प्रतीक्षातुर धड़कनें बजती रहती हैं। वह देखती है जिन लफ्जों को सुनने के लिए उसने कितनी प्रतीक्षा और साधना की है, आज अभी वे शब्द उसके अन्तर में बिखरकर उछलने लगेंगे।

धीरज कहता है, "जो काम आत्म स्वीकृति के विरुद्ध किया जाए, शायद वही पाप है।

सहसा कोई पुरानी चुप्पी उनके बीच टिकी रहती है। वह नीली की छोटी-छोटी उंगलियों को देखता है। अनायास ही चेतना की पारदर्शिता से नीली के अन्तर में प्रवेश को कोशिश करता है।

"नीली" धीरज बोलता है।

"हां" वह जरा ठिठक जाती है।

"चलो, भूगोल की किताब निकालो।"

"अच्छा सर"

नीली दरवाजे तक आती। आंखों की प्रतीक्षा धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ने लगतीं। लेकिन धीरज आज भी नहीं आएगा—वह जानती है। पर यह सच-झूठ के परे का भी झूठ लगता है।'''"धीरज ने स्वयं ही उस दिन मेरा हाथ पकड़कर कहा था कि वह भी मुझे प्यार करता है। उन्होंने झूठ नहीं कहा था, क्योंकि वह कभी झूठ नहीं बोलते। वह आयेंगे ज़रूर। एक दिन इन्हीं सीढ़ियों से चढ़कर। मैं उनके पैरों की आवाज खूब पहचानती हूं'''और मैं उस दिन रो दूंगी। मैं उनसे पूछूंगी कि इतने समय बाद आए हो? फिर मैं नाराज हो जाऊंगी —सिर्फ अपने को मनवाने के लिए।' वह सोचती रहती है।

उसे सब याद है—वह आते, किताब-सी खामोश, गम्भीर उनकी आंखें पन्नों को कुछ देर टटोलती रहती फिर उनकी उंगली किन्हीं शब्दों को कुरेदने लगती, फिर वह एकाएक हथेली की सलवटों को तानते हुए कल पढ़ाए हुए के बारे में कुछ पूछ बैठते वह जान गई थी कि पढ़ते-पढ़ाते धीरज किसी आपसी विशेष सम्बन्ध को ध्यान में नहीं रखते। इसलिए उस वक्त वह उनके

हाथों की नसों को एकटक देखने से भी डरती थी। वह उनकी घूमती पुतलियों और हिलते होठों को ही पलक भर देख पाती थी। यही कारण रहा कि पढ़ने के एकदम बाद ही वह धीरज को चाय के लिए नहीं रोक पाती थी।

उन रातों में वह बिस्तर में छिपकर सिसकती रहती। उसे लगता कि वह समय कभी नहीं आएगा, जब वह उसका इन्तजार करना बन्द कर देगी। सच और झूठ के द्वन्द्व में वह पछाड़ें खाती रहती। बे-रहम वक्त हाथी की चाल चलता हुआ लगता था।···धीरज नहीं आया।

···और एक दिन अचानक उसे लगा कि वह समय कब का बीत चुका है। अब उसने धीरज का इन्तज़ार करना छोड़ दिया था।

अरसा बीत गया है। समय ने पूरे अतीत को मानो चिथड़ों में कर डाला हो। स्मृतियों के धागे मकड़ी के जाल की तरह लटके पड़ हैं।

दोनों के चेहरे बूढ़ा गए हैं। झुर्रियों की लकीरों में उम्र की थकी ढलान पगडंडियों-सी एक-दूसरे को काटती हैं। और तभी नीली सहसा कह उठती है, धीरज आप?"

सिकुड़ता हुआ कोई लम्हा धीरज की ढली आंखों के सामने मानो टपक पड़ा है। उसके होंठ बुदबुदाते हैं, "नीली तुम?"

समय की चाल में शराबी लड़खड़ाहट घिर आई है। लम्हों की कुलाचें धीमी हो आई हैं।

उनकी आंखों की पहचान और धड़कते दिल में सब कुछ सच है, फिर भी वह सब झूठ क्यों था—वह सब झूठ क्यों हो गया था? यह आसमान फट क्यों नहीं जाता? अनन्त की सीमा टूट क्यों नहीं जाती? यह समय पछाड़ खाकर पलट क्यों नहीं जाता···?

वे पगलाये-से एक दूसरे को देखते रह जाते हैं।

नीली बीच में ठहरी खामोशी को चटखा देतीं है, "धीरज" आज 'सर' कहने में झिझकन है।

"हां"

"मैंने जीवन में पाप किया है।"

धीरज अपने सूखे हाथों में दबी घड़ी को सम्भालता है, "क्या?" वह आवक् रहता है।

नीली पल भर उसकी धुंधली पुतलियों को देखती रहती है, "हां, मैं ठीक कहती हूं।"

"बैठो" वह कांपती हथेली से संकेत करता है। फिर बोल उठता है, "और उस पाप का कारण मैं था, है न?"

दोनों की चुप्पियां धड़कने लगती हैं।

इस बार धीरज खामोशी तोड़ता है—"सुनो नीली।"

"क्या?"

"मैंने भी जीवन में पाप किया है।" कहकर वह हवा में कुछ टोहने लगता है।

"तो हम फिर वैसे क्यों न रह सके, उस पाप में होकर क्यों जिए?" नीली एकाएक अतीत से खींचकर शब्द-दर-शब्द लाकर खोल देती है।

धीरज गर्दन ऊपर उठाता है, मानो बरसों बाद ऐसा कर रहा हो।

खामोशी फिर खटकने लगती है।

देर तक वे बैठे रहते हैं। क्षितिज पर धीरे-धीरे शाम ढलती है। इनके पास अनुभवों के शिखर हैं। नीचे नगर का विस्तार है। सिमटती धूप में परिन्दे क्षितिज को भेदते हुए लगते हैं।

दोनों साथ रहने लगे हैं। गली, मुहल्ले, बाज़ार में इस बात की चर्चा फुसफुसाहटों में होनी शुरू हो गई है। उनका उठना-बैठना, हंसना-खेलना लोग आते-जाते देखते हैं। शाम होती है—वे अन्दर चले जाते हैं। लोगों को यह अन्तिम दृश्य देखने के सिवा कोई चारा नहीं रह जाता।

अन्दर दोनों क्या करते हैं, यह रहस्य बराबर बना रहता है।

आइए अन्दर चलते हैं।

बुढ्ढा धीरज दरवाजे बंद करके परदा गिरा देता है।

बुढ़िया नीली रसोई के काम निबटाने में लग जाती है।

इसी तरह कभी-कभी दोनों एक दूसरे से खीझ उठते हैं; किसी के किसी काम को देखकर। फिर दोनों अपने-अपने निजी संसार की चुप्पी में बैठकर ऊंघने लगते हैं। पर जब अनायास ही बीच में किसी की भी आंख खुल जाती है, तो जैसे पिछला सब मिट गया हो, और इसलिए दूसरे को जगाकर उसकी उस स्थिति से अवगत कराना अनिवार्यता बन जाता है।

मुझे तो लगता है कि वे दोनों सठिया गए हैं। अभी कल की ही बात है। बुढ्ढा शायद अपनी छड़ी ढूंढ रहा था, कि अचानक बुढ़िया को सामने देखकर बरस पड़ा, "ओ, क्या नाम ...मेरी छड़ी कहां रख देती है? पता नहीं कि मैं उसके बगैर एक कदम नहीं चल सकता।" [हांलाकि पूरा घर उन्होंने बिना छड़ी के चलते-चलते छान मारा है।]

बुढ़िया पहले तो उसे देखती रही, फिर तनिक से आवेश में हो आई, "छड़ी कोई मैं लिए घूमती हूं? जहां रखी हो, वहां भी देख आया करो। जाओ वहां बरामदे में देखो तो।"

बुढ्ढे की चेतना को जैसे झिझोड़ दिया गया। सचमुच छड़ी वहीं होनी चाहिए; क्योंकि वहीं छोड़ी गई थी। बुढ्ढे की चुप्पी को देखकर बुढ़िया ऐंठी थी, "दिमाग सीलता जा रहा है..."

उसे भी आवेश हो आया, तभी गरजा, "अच्छा चोऽऽप।" इतना कहकर वह मुड़ लिया था। दरवाजे तक गया; कुंडी खोली, फिर कुछ रुककर पीछे मुड़ लिया। बुढ़िया के पास आकर धीरे से कहा, "साढ़े चार होने को हैं, चाय चढ़ा दो अब, हां।"

यदि वह छड़ी लेकर ही चाय के लिए कहने जाता, तो बिना छड़ी के रास्ता कम पड़ता। परन्तु उसने पहले कुंडी खोली, फिर रसोई में गया, कहकर लौटा और तब कहीं जाकर बरामदे से छड़ी लाया।

उसने छड़ी कोने में रख दी और बिना छड़ी के चलकर आराम कुर्सी पर जा पसरा।

आज भी देखिए क्या होता है?—

बुढ़िया आती है। वे आमने-सामने हैं। बीच में मेज़ है। वह दो उंगलियों को आदमी की टांगें-सी बनाकर मेज पर चलाने लगी। और वह अधमुंदी आंखों से यह सब देख रहा है। उसका भी मन हुआ कि इस खेल में शामिल हुआ जाए।

तभी खेल शुरू हुआ।

"चलो जी, यह मेरा सैनिक है, अपने देश को बचाने के लिए आया है। अब आप भी अपना सैनिक लड़ाई के लिए भेजो।" वह कहती है।

"नहीं जी, युद्ध नहीं होगा, हम तो इन आदमियों की रेस करवाएंगे।" वह कहता है।

अभी निर्णय लिया जाना बाकी है। दोनों सोचते हैं। तभी बुढ़्ढा हड़बड़ा उठता है, "अरे वो चाय देख आ।"

बुढ़िया भी चौंककर हड़बड़ा जाती है, "हाय राम, पानी तो उबल-उबलकर सूख गया होगा।"

"एक समय में एक ही काम किया कर।" वह भौंवेंतान देता है।"

"अच्छा चुप्प।" वह होठों पर उंगली रखती है

थोड़ी देर बाद देखता हूं कि वे दोनों खामोशी में अपने-अपने प्यालों से चुस्की भरते हैं।

सोचता हूं कि लोगों को इनकी अजीब हरकतों के बारे में बताऊंगा। ये हमारी हंसी का विषय होंगे। जब वे हंसते-खेलते हैं, तो मेरे मन में कुछ किरकिरी-सी होती है। इसी को बुझाने के लिए मैं व्यंग्यात्मक लहजे में इन दोनों का खुलासा यारों-दोस्तों में कर बैठता हूं। मुझे सुनकर एक तरह का संतोष मिलता है।

पूरे शहर में हर व्यक्ति के इनको लेकर अपने अलग विचार हैं। कोई कहता है पति-पत्नी हैं। कोई भाई-बहन कहता है। कोई कहता है कि बुढ़्ढे ने शादी नहीं की थी और उधर बुढ़िया का जब पति मरा तो उसके लड़कों ने उसे छोड़ दिया। इसलिए वह बुढ़्ढे के पास आकर रहने लगी। क्योंकि ये दोनों जवानी के शुरू से ही एक दूसरे को जानते थे।···अजी नहीं ये दोनों कुंवारे हैं···क्या बात करते हैं अभी पिछले दिनों दोनों ने शादी की है।···अरे भईया शादी-वादी कुछ नहीं ऐसे ही रहने लगे हैं, भला मियां-बीवी राजी, तो क्या करेगा काजी।···मैं तो कहता हूं कि दोनों शादी-शुदा थे। उसने अपनी बीबी छोड़ दी और उसने अपना पति।···नहीं बाबा ऐऽ···।

हर मुंह अपने ढंग के तर्क देता।

गर्मियां बीत गईं। बरसातों में पहाड़ घुल गए। सर्दियों में धूप रहने तक का वह आराम कुर्सी पर अकेली बैठी रहती। फिर वह बरामदे के एक-दो चक्कर काटती और अन्दर चली जाती थी।

लोग कहते थे कि इनके पास खूब धन है। इसीलिए अज्ञात लोगों ने चोरी के विचार से धीरज की हत्या कर दी थी।

एक दोपहर हम कुछ लोग उसके पास गए थे। वह बुढ़िया आराम कुर्सी पर झुकी हुई बैठी थी। उस दिन उसने बाल धोए थे और सूखने के लिए खुले छोड़ दिए थे। बाल के रेशों में चांदनी-सी सफेदी मानो उफन रही थी। मुझे उसका चेहरा मोम के बने मुखौटे की तरह लगा था।

हम सब इर्द-गिर्द बैठ गए। वह धूप की परी की तरह लग रही थी। उसकी आंखों में पारे की-सी चमक थी।

बीच में से सहसा किसी ने पूछा था, "आपके लिए जिन्दगी के मायने क्या हैं?"

वह सुनकर भी वैसे ही खामोश बैठी रही, मानों उसने सुना ही न हो। फिर एकाएक जैसे अपनी चेतना में लौट आई। अपनी पतली-सी उंगलियों को एक-दूसरे में उलझाकर कहने लगी, "क्या आप लोग चुप नहीं रह सकते?"

सब उसकी ओर विस्मय से ताकने लगे। इससे पहले कि कोई कुछ कहता, वह स्वयं बोल पड़ी, "क्या यह आवश्यक है कि हर सवाल का जवाब दिया ही जाए?"

एक झिझके हुए कुछ क्षणों के बाद वह फिर बोली, "किसी तरह के मायने देने का मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं। क्या करूंगी इस बुढ़ापे में···" वह चुप हो गई।

बाकी सभी अपनी-अपनी निपटताओं में कुछ टटोलने लगे।

"सुना है आपने कनफ़ेशन किया है।" किसी ने पूछा।

"क्या पश्चाताप्?" वह पूछने वाले की ओर मुखातिब हुई, "क्या आप शादी शुदा हैं।"

सुनने वाला झिझककर मुस्कराया।

सभी एक दूसरे को देखकर होंठ सिकोड़ने लगे। तभी वह बोल उठी, "आपने सुना होगा कि एक आदमी स्वर्ग के द्वार पर खड़ा था। तभी वहां के कर्मचारी ने अन्दर से पूछा, क्या आपने पश्चाताप किया है?', वह आदमी सोचकर बोला, "जी हां, मैंने पृथ्वी पर विवाह किया था।" कुछ देर बाद अन्दर से वही कर्मचारी बोला, "अन्दर आ जाइए, आपको स्वर्ग में जगह मिलेगी।" और वह आदमी स्वर्ग में प्रवेश कर गया। इसी तरह दूसरा व्यक्ति आया। स्वर्ग के कर्मचारी ने उससे भी पूछा 'जी हां कहिए, क्या पृथ्वी पर पश्चाताप किया है कभी?" उस व्यक्ति ने पहले व्यक्ति की बात पर गौर किया होगा, इसलिए बोला 'जी हां, मैंने दो शादियां की थीं।' कुछ देर बाद अन्दर से कर्मचारी बोला, 'जाओ भई, यह स्वर्ग है, कोई पागल खाना नहीं।"

हंसी का विस्फोट हुआ। बुढ़िया भी हंसी के छोटे-छोटे कोमल झटकों के साथ हिलने लगी थी। इस हंसी से जीभ में उलझी गांठे खुल-सी गईं।

सभी को उसका बुढ्ढे के साथ सम्बन्ध जानने की उत्सुकता थी। हंसी रुक गई थी, तभी किसी ने पूछा, "आपका स्वर्गीय धीरज से क्या···?"

बुढ़िया ने कुर्सी के हत्थों पर दो-तीन बार हथेलियां घिसीं, फिर बोली, "पता क्या, एक दिन वह मेरी बांह पकड़कर बोला, 'आओ बहन, प्यार की बातें करें' और उस बुढ्ढे को देखो, मुझे बैठाकर पुराने गीत सुनने और सुनाने लगा था।"

हल्की हंसी फिर कमरे में गुनगुना गई।

बुढ़िया ने गर्दन उठाई और बोली, "धन्य हैं वे जो बुढ्ढे हो जाते हैं, और हाय जो उन बूढ़ों पर जो इतनी उम्र बीत जाने पर भी जिन्दगी को नहीं पहचान पाते। हमारी पीढ़ी के लिए ये कलंक हैं।" सभी बुढ़िया को विस्मय से देखने लगे, वह कहती गई, "मैं जानती हूं कि कई लोग हमसे खुश नहीं थे, तभी तो हमारी छत पर कभी-कभी पत्थर फेंकते थे। मैं सोचती थी कि देखो हमारी ज़िन्दगी बहुतों के लिए ईर्ष्या का कारण है। हमसे ईर्ष्या करके उन्हें सन्तुष्टि मिलती है। हममें शक्ति है। हमने झूठे स्वाभिमान से परे रहकर जीना सीखा है। मैं सच कहती हूं हम सूरज के पंख हैं।

वह चुप हो गई। कमरे में एक क्षण स्तब्धता घिर आई। फिर फुसफुसाहटें पसरने लगीं। उसकी गर्दन आगे को झुक आई थी।

जब बुढ़िया ने एक-दो प्रश्नों का उत्तर न दिया तो एक व्यक्ति ने उठकर उसकी नब्ज छुई। कमरे में खामोशी घिर आयी थी। उसकी मृत्यु का क्षण संगीत लहरी-सा सभी की धमनियों में रचता जा रहा था। हवा के झोंके ने आकर उसके खुले बालों को आहिस्ता से लहरा दिया। उसकी देह मात्र कुर्सी में धंसी हुई थी, मानो अभी तक वह किसी के लिए प्रार्थना कर रही हो।

[खादी एवं ग्रामोद्योग, कांगड़ा, हि० प्र०]

लाल जोड़ा

□ निर्मल छाया

चारों ओर मची त्राहि-त्रहि ने खामोश वातावरण को झंझोड़ डाला है। पेड़-पौधे धरती और आकाश, लोगों के साथ सब कुछ रोता हुआ-सा जान पड़ता है। चीखने-चिल्लाने की मिली-जुली आवाज़ें वातावरण का दम घोंट रही हैं। इस दिल दहलाने वाले समय में पुलिस और दूसरे बचाव कर्मचारी फुर्ती से डूबते लोगों व उनके सामान को बचाने का प्रयास कर रहे हैं। सामान से अधिक उन्हें जानें बचाने की चिन्ता है। लेकिन बाढ़ में फंसे बेबस गरीब लोग जान की चिन्ता किए बिना अपने टूटे-फूटे बहते सामान को बचाने में लगे हैं। सुबह से जुटे ये लोग अब तक काफी कुछ बचा चुके हैं। धीरे-धीरे कुछ लोगों को छोड़ सब अपने-अपने घरों को लौट रहे हैं। यूं भी बाढ़ का पानी अब शान्त हो रहा है। लेकिन कहीं-कहीं तो अब भी इतना गहरा है कि आदमी अब डूबा और गया। इधर-उधर आती-जाती मानव आकृतियां इस पानी में प्रतिबिंबित होकर दहशत पैदा कर रही हैं। धीरे-धीरे सांझ की बेला अपने श्यामल परों की अनसुनी फरफराहट लिए इसे और अधिक खौफनाक बना रही है।

अचानक कुछ आवाज़ें उभरतीं हैं—'बचाओ-बचाओ !' दो सिपाही उसी ओर भाग रहे हैं। देखते क्या हैं कि एक बुढ़िया लाल जोड़े के पीछे हाथ-पांव मार रही है। साथ ही एक बच्ची को बचाने का विफल प्रयास भी कर रही है। शोर सुनकर कुछ और लोग भी उसी ओर भाग रहे हैं। देखते ही देखते दोनों सिपाही पानी में कूद पड़े हैं। उनको कूदते देखकर बुढ़िया ने बच्ची को छोड़कर झट से लाल जोड़ा पकड़ लिया और अब बाहर की ओर आने लगी। लेकिन सामने एक मोटी औरत की तिलमिलाहट देखकर वह घबराई हिरणी की तरह भाग खड़ी हुई। दस कदम चलने पर ही वह हांफ गई और कबूतर की तरह पास की एक झाड़ी में ही दुबक गई है। मोटी औरत चाहकर भी नहीं भाग पाई। बस···वहीं से हाथी की चिंघाड़-सी चिल्ला रही है, "अरे देखो··· ये बुढ़िया मेरा लाल जोड़ा लिए भागी जा रही है, पकड़ो इसे ! बाहर आओ सिपाहियो···क्या ···सोच रहे हो। जो मांगोगे,···वही ईमान दूंगी···अरे जल्दी करो !"

मोटी औरत के मुंह से 'ईमान' शब्द कुछ यूं छूटा जैसे तपते लोहे पर हथौड़ा मारा गया हो। दोहरे हो गए यह शब्द सुनकर दोनों सिपाही डूबती लड़की को मझदार में छोड़ ही झटाझट बाहर आ गए। इस बीच पास खड़े लोग चिल्ला रहे हैं, "पहले बच्ची को, बच्ची बचाओ··· अरे···वह डूबी जा रही है···वह गई···।" सबको अनसुना कर, बुढ़िया को भी न देखते हुए, दोनों सिपाही अपनी ही झोंक में आगे निकल गए हैं। शब्दों की इस खींचातानी में हरेक वाक्य

पूर्ण होने से पहले ही मिट रहा है। लोग बेजान लकीरों की तरह पथरा गए हैं। पानी में उठते बुलबुले सब कुछ साफ कह रहे हैं। और अब भावी भय से आशंकित, बढ़ते अन्धेरे के साथ धीरे-धीरे सब लोग लौट रहे हैं। सूनी-सी व्याकुल सांझ बोझिल कदम लिए रात्रि की ओर अग्रसर है। गहराते अन्धेरे में दोनों सिपाही शिकारी कुत्तों की तरह बुढ़िया की टोह ले रहे हैं।

घने अन्धेरे और क्रूर नीरवता में सारा वातावरण दम साधे बैठा है। झींगुरों की आवाज शेर की दहाड़ से कम नहीं लग रही। एक चुप्प···आत्मा के भय में हिचकोले ले रही है। आड़ी-तिरछी कांटेदार झाड़ियां फूहड़ों की भांति कपड़ों से उलझ रही हैं। पैरों की ठोकर से लुढ़का पत्थर मस्तिष्क पर हथौड़-सी चोट करता है। हवा की तीखी सांय-सांय ने दोनों सिपाहियों को हाथ पकड़ने पर मजबूर कर दिया है। जैसे हवा को मुट्ठियों में कैद करना चाहते हों। ऐसी सुनसान रात में भय से सांसें फूल रही हैं। इतना तेज़ चलने पर भी शरीर में गर्माहट नहीं आई है। शायद रक्त जम गया है। मारे डर के सूखे पापड़ की तरह वे दोनों सिकुड़ते जा रहे हैं। धीरे-धीरे आधी रात तक हवा शान्त हो गई है। पत्ते जैसे फड़कना ही भूल गए हैं।

"कहां गई? इतनी दूर तो वह पहुंच ही नहीं सकती। कहीं दुबारा पानी में तो नहीं कूद पड़ी?" ये विचार उनके थके पैरों को और निढाल कर रहा है। उनकी हालत उस खुजलाए कुत्ते-सी हो गई है जो अपनी खुजली से तो परेशान रहता ही है साथ ही लोगों की दुत्कार भी सहन करता है। लेकिन 'इनाम' की याद आते ही कुछ उत्साह और जुट पाता है। लार यूं टपकने लगती है जैसे सूखी हड्डी को देख कई दिनों से भूखे कुत्ते की टपकती है। पर बुढ़िया तो कहीं दिखाई नहीं दे रही। कोई जंगली जानवर खा गया होगा। उन्हें यह संदेह भी होने लगता है। यूं भी अमावस्या की रात में जहां हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा उसे ढूंढ़ पाना कठिन है। थकावट व घने अन्धेरे के कारण, घर जाने का विचार छोड़कर वे दोनों वहीं आग जला ढेर हो गए हैं।

सुबह आंख खुली तो परस्पर आंखें मिलाने से कतरा रहे हैं। जैसे कोई बहुत भयानक अपराध कर बैठे हों। सूखे होंठों पर जमी पपड़ियां उनके कलंकित व्यक्तित्व की धज्जियां उड़ा रही हैं। किसी निर्दोष की हत्या करने पर जो दुर्दशा होती है वे उसी का प्रतिरूप लग रहे हैं। किसी तरह उठकर वापिस लौटने के प्रयास में अभी कुछ ही दूर चल पाए थे कि झाड़ी में एक औंधा शरीर देखकर ठिठक गए। पास जा पलटकर देखा तो शरीर में जमा रक्त बड़ी तीव्रता से प्रवाहित होने लगा। वे मारे प्रसन्नता के एक-दूसरे से लिपट पड़े हैं, "हां वही है···वही बुढ़िया। अब भी लाल जोड़ा सीने से लगाए बेहोश पड़ी है।" दोनों के होठों के कोरों से लार टपकने लगी, क्योंकि आज उन्हें दो-दो ईनाम मिलने वाले हैं। एक मोटी औरत से, दूसरा चोर बुढ़िया को पकड़ने पर अपने 'साहब' से। इसलिए झट से बुढ़िया को कन्धे पर लादकर वे थाने की ओर चल पड़े। पहुंचते ही बात को बढ़ा-चढ़ाकर सारा किस्सा कह डाला। लेकिन थानेदार साहब ने उनकी बेतुकी बातों को अनसुना कर, जल्दी से एक तपती अंगीठी और गर्म चाय मंगवाई। आग और चाय की गर्माहट ने बुढ़िया की बन्द धंसी आंखें खोल डालीं। होश में आते ही वह कमज़ोर आवाज़ में गिड़गिड़ा रही है, "देखो न बेटा···किस तरह ये मेरे पीछे पड़ें हैं। मैं चोर नहीं हूं···ये फटा लाल जोड़ा पानी में तैर रहा था। मैं जान जोखिम में डालकर इसे बाहर ले आई। मैं तो पोती को भी बाहर लाना चाहती थी। पर इन्हें कूदता देख···मैं···बस जोड़ा लिए ही बाहर आ गई। लेकिन चोर-चोर का शोर सुन मैं भाग खड़ी हुई···।" न जाने कैसे वह

एक ही सांस में सब कहती चली गई। शायद 'साहब' की वर्दी व रौबीले चेहरे को देखकर उसके भीतर कुछ हिल-सा गया। थानेदार ने बीच में ही टोककर पूछ लिया, "पर दादी···क्या करोगी इस जोड़े का ? अब तो तुम्हारी उमर भी नहीं रही ऐसे लाल-पीले कपड़े पहनने की ?"

"न बेटा···अपने लिए नहीं···ये तो···अपनी पोती के निकाला है।" भूख और थकान से टूटी बुढ़िया इतना कहकर रुक जाती है। किसी तरह संभल कर वह फिर बोलती है, "गरीब हूं न···इसलिए नया लाल जोड़ा तो बनवा न सकूंगी। सोचा···इसे ही सिल संवारकर पहना दूंगी। बड़ी इच्छा है···उसे लाल जोड़े में देखने की।" सुनकर दोनों सिपाही गुर्राते हैं, "झूठ बोलती है साहब। ये तो पक्की चोर है···चोर। अब यूं ही मन-घड़ंत बातें बना रही है।"

"न बेटा···चोर नहीं हूं"···वह लगभग रो ही पड़ती है, "ये तो वह ही जाना था, मैंने निकाल लिया तो क्या बुरा किया। तुम खुद ही देख लेना···कैसा फबेगा उस पर। धूप जैसा रंग है मेरी पोती का···ये जोड़ा पहनकर तो वह स्वर्ग की परी दिखेगी।"

"अरी चुप···हम कुछ नहीं जानते। तुमने चोरी की है और तुम पक्की चोर हो। सज़ा तो तुम्हें मिलेगी ही। लाओ वापिस करो, जिसका है उसे लौटाना है," वे छीनने को उसकी ओर बढ़ते ही हैं कि थानेदार की कड़कती आवाज़ उन्हें जहां का तहां रोक देती है, 'रुक जाओ, बड़ी जल्दी लगी है !"

भय से कांपती बुढ़िया ने छाती से चिपके जोड़े को साहब की ओर बढ़ाते हुए कहा, "बेटा कुछ ही दिनों में मेरी पोती का विवाह होने वाला है। बस···एक बार···उसे ये पहना दूं···फिर वापिस कर दूंगी। केवल कुछ दिन के लिए उधार ही रहने दो···भगवान तुम्हारा भला करेगा···।"

"दादी, कहां है तुम्हारी पोती ?"

"इन दोनों ने ही तो उसे बचाया···", वह उन दोनों सिपाहियों पर कुर्बान होने लगी। हंसकर फिर बोली, "मैं तो डर और ठण्ड के मारे ऐसी बेसुध हुई कि मुई···अब आंख खुली।"

"जाओ इन्हें इनकी पोती के पास छोड़ आओ और किसी तरह ये मामला भी निपटा देना।" थानेदार सिपाहियों को अपना आदेश दे देता है। लेकिन अपनी जगह पर जड़ बने सिपाहियों को देखकर थानेदार का माथा ठनका। वह लगभग दहाड़ ही पड़ा है, "तुम जाते क्यूं नहीं ?" एक सिपाही ने हकलाते हुए कहा, "जी···हमें नहीं मालूम···उसका क्या हुआ ? हम तो 'चोर-चोर' का शोर सुनकर इस चोर बुढ़िया के पीछे भागे···" उसके इस अधूरे वाक्य से सारा वातावरण स्तब्ध रह जाता है। बुढ़िया की तो पैरों तले की ज़मीन ही सरक जाती है। वह क्षण-भर में सब कुछ समझ गई। इससे पहले कि थानेदार उठकर, उन्हें, उनके किए की सज़ा दे बुढ़िया सीने से लगा जोड़ा चीर कर वहीं तार-तार कर डाला। अब धीरे-धीरे वह शान्त हो गई है। उसके शान्त होते चेहरे की चमक किसी आने वाले तूफान का संकेत ही है। वह फटा जोड़ा लिए सबकी नजर बचाकर बाहर की ओर भागती है। बूढ़ी हड्डियां दहलीज भी पार नहीं कर पाईं कि वह दरवाजे से टकराकर औंधे मुंह फर्श पर जा गिरती है। उसके सिर से निकलती लहू की धार से तार-तार हुआ जोड़ा और भी सुर्ख हो गया है।

[संगीत अध्यापिका, राजकीय कन्या वरिष्ठ विद्यालय, सोलन, (हि० प्र०)]

कविता

दो कविताएँ

□ दिविक रमेश

कड़ हाजिर है

कड़ रामसिंह की है
लादो
जब तक चाहो।

रामसिंह खुद मानता है
जनम ही उसे
लदने को मिला है
दोस अपना है
सुफल कर लेगा।

दुख लेती है कड़, तो भी क्या
जान बड़ी है
एक बीड़ी भर कस
बस बहुत है
देह की चिलम भरने को।

आप थक जाएंगे
थैला भी लाद दो
सैलानी हैं आप—
कड़ का क्या है
थोड़ा झुक ही तो लेगी
गोल गोल
रोटी के आकार में।
बाण पड़ गई है अब तो।

अजी, बोझ भरने की जरूरत ही क्या है
बच्चे को भी लाद दो सामान पर
क्यों बोलने लगा रामसिंह कुछ भी
छोड़िए भी
मत आड़े आने दीजिए बची-खुची इंसानियत को
सिर्फ सपने बुनने दीजिए रामसिंह को
अपनी समझ में, समझदार बनने दीजिए रामसिंह को
मोटी बख्शीश की एवज में।
और सपने भी क्या हैं
कौन उसने बाल-बच्चों को पढ़ाना है
कौन उन्हें लाट बना खानदानी पेशा छुड़ाना है
यही बस, कुछ सागपात, बंडल बीड़ी का, थोड़ा तम्बाकू
कुछ नून तेल, हल्दी-मिरच, बहुत हो तो ताड़ी
बाप दादा लाई दु:ख-सुख के कुछ गीत,
और थोड़ी मेहर भगवान की।
अजी लादो भी
खच्चर थोडे ही है रामसिंह
कि अपने मालिक के अधीन हो।
खच्चर होता
तो चल जाती मालिक की
कहता
साब जानवर है
नहीं बोलता तो क्या
प्रान तो इसमें भी हैं।

लो एक ख्याल आ गया
सोचो, हो ही जाए अगर किसी दिन रामसिंह जानवर
जानवर
जिसके सींग भी हों
तो कैसा लगेगा मूंछों वाला रामसिंह !
सच, हंसी आती है मुझे तो सोचकर
मूंछों वाला—जिसके सींग भी हों
जानवर रामसिंह।
ठट्ठा मखौल का जी हो
तो पूछ लें रामसिंह से ही।

रामसिंह खुश होगा
खुश होगा सींगों के लिए
थोड़ा और लाद सकेगा सामान सींगों पर
कुछ और सपनों के लिए।

पर सींगों पर
सामान लादते तो नहीं देखा मैंने जानवरों को
धरती ठेलते जरूर देखा है कभी-कभी।
देखा है आल करते हुए जानवरों को।
माथे से माथा मिलाकर
सींगों से सींग भिड़ा
देखा है तैयारी-सी करते हुए जानवरों को।

जानवर बनना भी
पर हंसी खेल तो नहीं होता।
पूरा इतिहास नोंच कर
एक नया इतिहास बैठाना होता है देह पर।
खैर, जितना चाहे लादो
कड़ रामसिंह की है।
थोड़ा-बहुत बिदके
तो रास कस दो—
भूसे पर
चुटकी भर आटे-सी
मीठी चुचकारियां बुरक दो।
रामसिंह कहां जाएगा
आदमी हुआ
तो गुण गाएगा।

बर्लिन की एक शाम

उसने मुझे वक्त दिया
क्योंकि मैं
बुद्ध के देश से था।

उसने मुझे
चेरी और स्ट्राबरी खिलाई
क्योंकि मैं गांधी के देश से था।

उसने मुझे कोनियक पिलाई
क्योंकि मैं शांति के प्रचारक
भारत से था।

उसने मुझे भोजन कराया
क्योंकि मैं शांति और मेहनत को
लाड़ करता हूं।

उसने मुझे उपहार दिया
क्योंकि मैं गरीबी नहीं
उसका संघर्ष पहचानता हूं।

उसने मुझे
भीगी पलकों से विदा किया
क्योंकि मैं उसके और खिलाफ खड़े आदमी का
फर्क जानता हूं।

[बी० 295, सै० 20, नोएडा-201301]

तीन कविताएँ

□ श्रीवत्स

चिट्ठियाँ

चूहे ने गिरा दिये बंडल पुरानी चिट्ठियों के
अलमारी के ऊपर से
इनमें उन दोस्तों की चिट्ठियां भी हैं
जो चिट्ठी लिखने की उम्र को छलांग कर
बहुत आगे बढ़ चुके हैं
मैं उन्हें तेज़-तेज़ कदमों बढ़ता ही देख सकता हूं

क्यूं अटकी रहती हैं कुछ चीज़ें साथ-साथ
सोचा कई बार
फेंक दूं
यह कूड़ा-कबाड़
कहां शहर-शहर ढोता फिरता हूं
बोझ हल्का होगा
लेकिन ऐसा तो हम सोच ही लेते हैं
अपनों के विषय में भी बहुत बार।

चिट्ठियों में दोस्तों के मासूम चेहरे होते हैं
वर्षा के बाद
धुली-कांपती पत्तियों की तरह
बचपन की कुछ भूल-ग़लतियां
स्मृति से मिटे हुए नाम-पते
ये रहें
पड़ी रहें कहीं
सपनों की दुनिया में लौटने का
मन कर ही आता है कभी।

संबंध

हम सोचना चाहते हैं
सबसे मुक्कमल और सब से कोमल
चीज़ के बारे में
जैसे बीज, धरती पर हवा-पानी-धूप लेकर
होता हुआ पेड़
जंगल में, पहाड़ पर, यूं ही रास्ते में खड़ा हुआ पेड़
फिर एक नाम होता है पेड़ का, जैसे पीपल
फिर बहुत कुछ होता है पीपल के साथ
भूत-बसेरा, संकल्प
और भी बहुत कुछ ।

जो भी अक्सर बेनाम, अचीन्हा और
बेमानी-सा होता है
हम उसी के बारे में सोचना चाहते हैं
वह कहीं भी हो सकता है
तुम्हारे मेरे बीच
चिड़िया और आकाश के बीच
स्मृति में अटकी हुई गलियों, चौबारों और
उदास चेहरों के बीच
जहां भी कुछ हरा-सा दिखाई पड़ता है
हम सहारा लेकर सोचने लगते हैं
ठगे हुए से ।

शहर से

हम छोड़ आते हैं
गांव, पहाड़ सूखती नदी के पत्थर
विवशता में हम सोच ही लेते हैं
एक ही आसमान, चांद, सूरज
एक ही होता है सब जगह दुख
हम ढूंढने निकलते हैं दुख का छोर
और भटक जाते हैं ।

सहमी हुई नींदों में
हम कभी गांव के शापित तालाब में
गिर पड़ते हैं
कभी पहाड़ की दुर्गम चोटी से
फिसल पड़ते हैं
कभी सिर-सिर पानी में घुटती है सांस
जानलेवा हो जाती हैं नींदें।

सड़कों पर जो होती हैं दुर्घटनाएं
कुचले जाते हैं जो
सिर्फ सड़क पार करते
फुटपाथों पर सोते हुए मर जाते हैं जो
उनमें कोई अपना नहीं होता
सबके पास होते हैं अपने-अपने पते
बच्चों के बस्तों में
बड़ों की जेबों में
नहीं रख पाते हैं अपने पते
जिनके पास नहीं होती हैं जेबें-बस्ते

बस इसी तरह खटती है जान दिन-भर
जेब में घर का पूरा पता लिये
शाम होते ही
एक घिसटता हुआ ढांचा
ठेल दिया जाता है एक सांचे में।

पत्नी थकान से टूटती हुई
देह सौंपते हुए कुनभुनाने लगती है
हम लौट आते हैं
यहां-वहां टूटते हुए को सोचते हुए।

यह सब होता चलता है
न इच्छा से, न अवशता से
एक सीमा के बाद
समुद्र उलच जाता है
और निकल आते हैं दुर्गम पहाड़
जीवाश्म बन जाती हैं इच्छाएं
घनघोर युगों तक दबी रहने के लिये

जैसे सुबह महतारिन
खुश होकर बताती है कि उसका लड़का
हो गया है सरकारी मेहतर।

पहाड़ से चिट्ठी आती है
'कठियाले वाली चाची को खून का कैंसर हो गया है
नहीं बचेगी···इस बार फसल अच्छी हुई है
मुन्ना बोलना सीख गया है'
नहीं समझ आता है
शब्द के बाद शब्द का होना
बस, कभी-कभी सुनाई पड़ने लगती हैं
कानों को भेदती हुई चीखें, अट्टहास
जुलूस-दर-जुलूस
फिर भी गाहे-बगाहे उभर आती है
गांव की याद
एक बुढ़िया सड़क पार करना चाहती है
आंखें चौंधिया जाती हैं
और एक रेला गुज़र जाता है
बिलावजह यात्राओं सरीखा
बुढ़िया ने सड़क पार कर ली होगी
किंतु बुढ़िया सड़क पार करना चाहती है
जैसे गांव वैसा ही आता है स्वप्न में
सहमी हुई नींदों में।

[हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
ब्लाक-6, मैदान गढ़ी, नयी दिल्ली-68]

तुम्हारा नाम सुनकर

वे हैरान थे तुम्हारा नाम सुनकर
हँसते-हँसते उनके पेट में बल पड़ गए
कि मैं ले सकता हूँ तुम्हारा नाम
जैसे ही मैं तुम्हारा नाम लेने लगा
—अच्छा तो क्या हुआ
ओहो ! मैं जानता ही था—
उनमें एक कहता
और चुप हो जाते बाकी सब

यह सच है कि तुम्हारा नाम सुनकर
कान खड़े हो जाते कइयों के
वहाँ-जहाँ वे सब लोग बैठे थे
अक्सर मुहावरे में बातें करते
जैसे उनकी ही इस भाषा में मैं कहूँ तो
वे बिदक जाते थे तुम्हारा जिक्र होते ही
चमत्कार ही था तुम्हारा नाम
जैसे कि नाम में भी बहुत कुछ रखा है
इसलिए वे आपस में घंटों बातें करते रहे
रहस्य पर बातें करते हैं जैसे
हर मुमकिन कोशिश करते हुए कि नाम को
तुले हुए हैं वे बिगाड़ने पर।

सलूक

उसके पास से निकलकर
हम डर जाते हैं
सामने देखकर उसे
हम ओझल हो जाते हैं

हम डरते नहीं
ओझल नहीं होते तो
वह फिर कभी
न पास आता
न सामने पड़ता।

[द्वारा जनसत्ता, 186बी इंडस्ट्रियल एरिया, चण्डीगढ़]

दो कविताएँ

□ कविता सूद

एक अधूरी-सी कविता

जैसे ही सूरज डूबा
अंधेरा होते ही
सामने के सारे पहाड़
समतल हो गये।

समतल हुआ करता है अन्धेरा
और प्रकाश सतरंगा।

सुविधा हुआ करता है अन्धेरा
और प्रकाश सच्चाई।

तुम चाहो
तो अपने लिए कोई भी रंग चुन लो
हर रंग एक आकाश हुआ करता है
एक अवकाश

नहीं मालूम
सबने कैसे मान लिया
कि सूरज उगा करता है
मैंने तो जब भी देखा
सूरज को डूबते देखा।

हर ओर पश्चिम ही पश्चिम है
और हर कदम बढ़ता
अन्धेरे की ओर

मैं अक्सर चाहती हूं
कि कभी
दिन रहते डूब जाये सूरज
और दुनिया देखती रह जाए

कभी-कभी तो सूरज बढ़ता ही नहीं
और दिन ढल जाता है
मैंने तो जब भी देखा
सूरज को ढलते देखा

हर शाम के बाद
एक सुबह है
और हर चांद के बाद एक सूरज
सूरज अस्त होगा
उदय का सपना लेकर।

असम्भव

मैंने एक सुन्दर-सी कली देखी
चटख रंग, महकती मुस्काती
उसमें जीवन था
और ललक थी
आशा थी और नई ज़िन्दगी का उल्लास
यौवन से भरपूर।

आस-पास
कितने ही लोग थे
जो उसे देख रहे थे
उनके हाथ लम्बे थे
और कद ऊंचे
आश्चर्य कि वह कली
फिर भी डाली पर थी!

[247/1/3 जेल रोड, मंडी, हि० प्र०-125001]

समीक्षा

जैसे अवध का आदमी पहचाना जाता है

□ ओम निश्चल

समकालीन समीक्षा की यह नियति ही बन गई है कि जब तक किसी लेखक या कवि को कोई पुरस्कार न मिले, वह चर्चा में नहीं आता। देवीप्रसाद मिश्र भी 1987 में भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार मिलने के साथ ही चर्चा में आए। इस पुरस्कार ने अनेक युवा कवियों को कविता के क्षेत्र में स्थापित किया है। विनोद भारद्वाज, स्वप्निल श्रीवास्तव, गगन गिल, अरुण-कमल तथा कुमार अम्बुज आदि को इस पुरस्कार से ही चर्चा मिली। हालांकि ये कवि वर्षों से रचना के क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं तथा कविता में अर्थ और शिल्प को नया आकार देने में इनके प्रयत्नों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

देवीप्रसाद मिश्र की कविता पर लिखते हुए उसके परिवेश और स्वभाव का उल्लेख प्रासंगिक होगा। उसकी कविता अवध अंचल की ज़मीन पर रची गई कविता है। वहां अवध की संस्कृति, सामाजिक परंपरा और लोकसंवेदना की सहज संवेद्य अभिव्यक्ति कविता में निमज्जित होकर प्रकट हुई है। इनके भीतर झांकते हुए उस पूरे समाज के भीतर के सुख-दुख; मिथकों, जीवनानुभवों, लोकछवियों, संस्कारों की छाया से सम्पर्क किया जा सकता है। यदि पूछा जाए कि देवीप्रसाद मिश्र की कविता में वह कौन-सा तत्त्व है जो हमें बांधता है तो निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि इनमें मनुष्य, समाज और लोकजीवन के साथ जुड़ी विसंगतियों; मिथकीय अवधारणाओं और व्यक्ति की दुखती रगों की आवाज शामिल है। यह कवि निरा समकालीन संदर्भों/घटनाओं को ही (आज की अधिकांश कविता की तरह) विचलित भाव से ग्रहण नहीं करता है, बल्कि जीवन के स्थायी मूल्यों को कविता की विस्तृत परिधि में ले आता है। इसीलिए हाल ही में प्रकाशित उसके कविता संग्रह **'प्रार्थना के शिल्प में नहीं'** में हम समकालीन गतिविधियों एवं हालात का परिचय न पाते हुए भी कविता के उस समकालीन चेहरे से परिचय प्राप्त करते हैं जो कविता में नए प्रयोगों के साथ आया है। क्या हुआ, जो यहां गैस त्रासदी पर कवि ने आंसू नहीं बहाये, आपातस्थिति पर गुस्सा नहीं बरपा और वामपंथ या दक्षिण पंथ को प्रकट करने वाले राजनीतिक उत्साह या अवसाद को अप्रकट रहने दिया है। परंतु यहां उन सभी पहलुओं पर हमारे समकालीन अनुभवों को झिंझोड़ा गया है जो जीवन में पवित्र व्याधियों की तरह जड़ जमाए हैं। गणतंत्र में फैले अलोकतंत्र को अत्यंत शालीन, लेकिन प्रभावी प्रतीकों के माध्यम से कवि ने अनावृत किया है। पर ये समकालीन हालात की राजनीतिक कविताएं नहीं हैं। ये समकालीन चेतना की कविताएं हैं। यह चेतना कविता में कभी बासी नहीं होती। यह सार्वभौम, कालातीत और विस्तृत समय-संवेदना में फैली

हैं। समकालीन हालात को बताने वाली कविताएं भले ही एक समय बाद अप्रासंगिक हो जाएं, परंतु यह चेतना कविता के साथ शताब्दियों तक जीवित रहती है तथा धीरे-धीरे स्थायी मूल्यों में बदल जाती है।

देवीप्रसाद मिश्र की कविताए पाठक पर तात्कालिक प्रभाव ही नहीं छोड़ती, अपितु स्मृति में धीरे-धीरे स्थायी जगह बना लेती हैं। मुझे जैकिट पर मुद्रित इस राय को स्वीकारने में आपत्ति नहीं है कि इन कविताओं में अतीत और समकालिकता को उनकी अविछिन्नता और द्वंद्वात्मकता में आमने-सामने रखा गया है। लेकिन हिन्दी कविता में ऐसा पहली बार नहीं घटित हुआ है। अतीत और समकालिकता का द्वंद्वात्मक समन्वय श्रीकांत वर्मा, श्री नरेश मेहता और दूधनाथ सिंह आदि में सघनसंवेदना के स्तर पर मिलता है। ऐतिहासिक और लौकिक मिथकों में अर्थ का पुनराविष्कार करते हुए समकालीन परिस्थितिबों को जीवंत बना देना श्रीकांत वर्मा की विशेषता रही है। 'मगध' में हम ऐसी ही अभिव्यक्ति से साक्षात्कार करते हैं जो कविता में निःसंदेह विरलता से पाई जाती है। देवीप्रसाद की कविताएं समग्र तौर पर श्रीकांत वर्मा के काव्य-व्यवहार से अलग हैं। परंतु किन्हीं-किन्हीं रचनाओं जैसे "जब इंद्र का शव मगन हुआ", "दुख का कारण", "राजा ने आदेश दिया", "दिशा", आदि पर श्रीकांत वर्मा की काव्य-शैली का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव स्वाभाविक है। अपने पूर्ववर्ती व समकालीनों से प्रभाव ग्रहण करना और उस प्रभाव को रचना का स्वस्थ स्वभाव मानकर उसका विकास करना लेखन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। शेष कविताओं के रचाव में देवीप्रसाद मिश्र का अपना स्वर है, अपनी शैली है। शैली के स्तर पर यह कहना अतिशय न होगा कि इस कवि ने राजनीति के विरस संवाद में लथपथ कविता को नया अर्थ प्रदान किया है।

परंपरा और समकालीनता की आधारभूमि पर पांव टिकाए यह संकलन 'परंपरा-पाठ' और 'यह समय' शीर्षक दो खंडों में बंटा है। मिथकों में जीवन की घनीभूत सचाइयां छिपी होती हैं। कवि अतीत से उन्हें उठाकर नया अर्थ देते हैं। उन पर पड़ी पुरातनता की धूल को झाड़-पोंछकर नई संकल्पना का वरक चढ़ाते हैं। "परम्परापाठ" में मिथकों, किंवदंतियों का सर्जनात्मक पुनराख्यान है, जिसकी सरल वाक्य-रचना कविता के बारे में बहुश्रुत इस विरुद को झुठलाती है कि वह अपठनीय और असम्प्रेषणीय हो गई है।

देवीप्रसाद मिश्र कविता के हेतु से वाकिफ हैं। कविता के लिए कविता रचने की कोशिश फिलहाल उनकी कविताओं में नहीं दिखाई देती। उनके ही शब्दों में—**कविता दर्ज करती है अरावली होता दुख / और विंध्य होता आदमी/···हवा की तरह, आग की तरह, आकाश की तरह, पानी की तरह, पृथ्वी की तरह, आखिरी मनुष्य के जीवित रहने तक जीवित रहती है कविता/जैसे सबसे पहले मनुष्य के साथ शुरू हुई थी कविता** (पृष्ठ 128)

देवीप्रसाद मिश्र की जिस कविता पर भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार के पुरस्कर्ताओं की निगाह ठहरी थी, वह थी: "प्रार्थना के शिल्प में नहीं।" इसमें परंपरा से भौतिक और प्राकृतिक संसाधनों के उद्भावक देवी-देवताओं के लिए वैदिक वाङ्मय के सूक्तों में की गई प्रार्थनाओं के विपर्यस्त उन्हें मर्त्यलोक से कूच करने के लिए कहा गया है। इंद्र, मरुत, बृहस्पति, अदिति, रुद्र तथा अन्यान्य देवी-देवताओं पर लोक में विश्वास करने की सहृदयता ने मनुष्य में, वरीयतः भारतीय संदर्भ में, उद्यमहीनता पैदा की है। नियति पर भरोसा करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। मनुष्य आत्मपरीक्षण और उद्यम करने की बजाय मिथकों की पूजा करके भवबाधा से मुक्त

होना चाहता है। यहां कवि की व्यंग्य शक्ति गौरतलब है। लोक को जड़ता के अंधकार से बाहर निकालने के लिए सचेत करने की कवि की कोशिश तथा देवताओं को कूच करने का सक्रोध निवेदन विस्मित कर देने वाला कथन बन गया है। देवताओं को कूच करने की सलाह कवि ने लगभग इस तर्ज पर दी है जैसे कोई दंगाग्रस्त समय में पुलिस से कहे, "बादशाओ, आप लोग यहां से कूच करें तो शांति-व्यवस्था कायम हो!" व्यंजना का यह सुदूर संवेदन देवीप्रसाद की कविताओं को प्राणवान बनाता है।

मिथकों और देवी-देवताओं का हमारे जीवन में दखल कितना प्रभावी है, इसे गांव का कवि ही समझ सकता है। यह कवि जिन देशज शब्दों—भेंट अंकवार, मेहरारू, पतोहू, भैया, दीदा, देउता, पड़ाइन, झुमकी, छंगू, घरैतिन, जांगर, चुप्पी भांजे आदि को अपनी कविता में बरतता है, वे शब्द अवध की ज़मीन के हैं। उसकी कविता के अधिकांश चरित नायक या तो मिथकीय हैं या गांव-गिरांव के। उसके प्रिय प्रतीकों में नदियों, पहाड़ों और स्त्रियों के लिए व्यापक जगह है।

यह कविता जितनी सरल है, इसकी व्याख्या उतनी ही मुश्किल है। इसे सिर्फ सुनकर समझा जा सकता है, दूसरों को सुनाकर जाना जा सकता है।

अपने चेहरे को कवि न तो अपूर्व मानता है न ही विशिष्ट। वह कहता है: उसका चेहरा लाखों चेहरों जैसा ही है। परन्तु जब वह कहता है, "**मुझे पहचानना कि जैसे अवध का आदमी पहचाना जाता है**" तो लगता है, यही वक्त है जब मुझे कह देना चाहिए कि हां, मैं इस कवि को पहचानता हूं। वह भले अपने परिचय को निरे आम आदमी के रूप में बदलते हुए यह कहे कि "**मैं फूल नही हूं न ही चांद, मेरा रंग विंध्य की तरह स्याह है/दुनिया की सबसे पुरानी नदी के स्वाद की तरह है मेरे पसीने का स्वाद**" या कि वह अपने दुख को सकुचाते हुए कहे कि "**मेरी एक शिरा में गंगा दूसरी में बेतवा तीसरी में सतलज और चौथी में सई है/जो नाड़ी नीली दिखती है उसमें/शताब्दियों पुराने दुख की यमुना बहती है**"—परंतु उसके उपमान भरे कथनों में अवध की ज़मीन के एक प्रखर कवि की जातीय काव्य-संवेदना समाई हुई दिखायी देती है।

देवीप्रसाद की कविताओं में एक बात बड़ी शिद्दत के साथ उभर कर सामने आती है कि कविता से वह अपना नाता किस तरह प्रगाढ़ बनाये हुए है। काली दुनिया की आंच के सम्मुख होने की चाह और नदियों के साथ रिश्तों को पुनर्स्थापित करने का विवेक उसे मनुष्य के कृष्णपक्ष से जोड़ता हुआ परम्परा की प्रागैतिहासिक जड़ों तक पहुंचाता है।

आज कविता में जीवन का विस्तार जितना मुखर दिखाई देता है, आचरण में वह प्रतिफलित होता नहीं दिखता। विचार और कर्म के फासले को बढ़ाने की दिशा में कवियों ने भी कम उदारता नहीं बरती है। देवीप्रसाद की कविताएं विचार और कर्म के इस फासले को कम करने की रचनात्मक कोशिश है। "यमुना" कविता में नदी के साथ जुड़ने की सीख नदी की भांति सांस्कृतिक विरासत को सम्भालने और मनुष्य जाति के साथ तदवत् बरताव करने की सीख है।

अबूझ दार्शनिकता का अभाव देवीप्रसाद की कविताओं के सम्प्रेषणीय होने की मुख्य वजह है। उसकी कविताएं कथोपकथन के माध्यम से अथवा एकल वक्तव्य के रूप में आकार लेती हैं। इनका विन्यास सरल भाषा में उपनिबद्ध एवं कलात्मक है। इन कविताओं में मामूली

आदमी के प्रति आत्मीय संवेदना है। कर्म के प्रति समर्थन का भाव है। "अमरत्व" में कृषक पत्नी का बीज बोते हुए अमरता का अहसास जीवन को नश्वर कहते हुए नगर-नगर घूमते दार्शनिक पर कितना गहरा व्यंग्य है! यहां ऐतिहासिक-पौराणिक मिथकों और किंवदंतियों से कविताओं को पठनीयता और अर्थसम्पन्नता मिली है। इन कविताओं में मनुष्य की विवशता, सामाजिक दिशाहीनता, सांस्कृतिक विकृतियों के समकालीन स्वरूप को मिथकों, किंवदंतियों और ऐतिहासिक पुनराख्यान के जरिये सामने लाया गया है :

मनुष्य से कीमती था घोड़ा
मनुष्य से कीमती था हाथी
सेनाएं मनुष्य से ज्यादा भव्य मानी गईं
और इमारतें मनुष्य से कहीं ज्यादा ऊंची
······गणतंत्र में मनुष्य के होने का अनुमान बना रहा, बस।

(बाजार : पृष्ठ 47)

स्त्री की छवि मुक्ति की अनंत प्रार्थनाओं/अभियानों के बाद भी ज्यादा नहीं बदली है। "आपके गणतंत्र की एक स्त्री की प्रेमकथा" शीर्षक कविता इस मुद्दे को सफल शिल्प के साथ उठाती है। स्त्री के मनोविज्ञान को यहां कवि ने उसकी वास्तविक संवेदना के साथ उठाया है :

स्त्री इसलिए चरित्रवान होना चाहती थी,
क्योंकि स्त्रियां चरित्रवान होती हैं।
क्योंकि चरित्रवान होना स्त्री के लिए अनिवार्य है
क्योंकि गणतंत्र में स्त्री का काम ही क्या
सिवाय इसके कि स्त्री अपना चरित्र बनाए रखे
स्त्री स्त्री थी
स्त्री बार-बार भूल जाती थी
और प्यार कर बैठती थी। (पृष्ठ : 52)

'दुःख का कारण' और 'दुःख' एक ही जमीन की कविताएं हैं। दुःख का साक्षात्कार सरल नहीं है। उसका निवारण तो और भी कठिन है। घर-संसार छोड़कर भी महात्मा बुद्ध दुःख को रोक नहीं सके। कविता लगभग उसी पृष्ठभूमि का स्मरण दिलाती है। तथापि बिना किसी 'दुखवाद' का प्रचार किए यह कविता जीवन के उस बिन्दु को समझने में मदद देती है, जहां पहुंचकर दुःख को जाना जा सकता है :

जो दुःख का कारण जानना चाहेगा
उसे राजपाट का मोह छोड़ना ही होगा
···वह रोते-कलपते लोगों के बीच से गुजरेगा
और वही कह सकेगा, जीवन में दुःख
इस तरह व्याप्त है जैसे समुद्र में खारेपन का स्वाद
फिर सहस्राब्दियों तक वह
दुख के विरुद्ध उद्धृत किया जाता एक मिथक होगा। (पृष्ठ 62)

"यह समय" कविता-संग्रह का दूसरा खंड है। ये मिथकों, किंवदंतियों से परे, समकालीन सोच और जीवन की कविताएं हैं। अपने ही बारे में लिखी एक कविता 'जन्म' से शुरू

यह खंड 'कविता' शीर्षक आखिरी रचना पर खत्म होता है। यहां जीवन को समझने का यत्न है। इन कविताओं में उभरे रामगरीब, छंगू, पुदई मोची, चचा हसन, झिंगुरी और देउता जैसे चरित्र अपनी समस्याओं, परिस्थितियों के साथ कवि की संवेदना में जगह बनाते हैं। मानवीयता से सम्पृक्त सहज स्थापत्य में समाई जीवन-संवेदना देवीप्रसाद की कविता में विरल अंतरंगता और अर्थ-वैशिष्ट्य की अनुभूति देती हैं। मिथकों के बहाने जगत के लौकिक स्वरूप को नए अर्थों में जीवन देने की उसमें अपूर्व क्षमता है। यों तो समूची साठोत्तर कविता में नारी को उसका सम्मान लौटाने का यत्न मिलता है जो अकविता काल में उससे छीन लिया गया था। परन्तु स्त्री में जातीय चेतना विकसित करने में युवा कविता के बाद की पीढ़ी के कवियों का बड़ा हाथ है। स्त्री के लिए समाज के अनेक बंधन हैं। इन स्थितियों को आज के कवियों ने बारीकी से, मनोवैज्ञानिक स्तर पर टटोला है। देवीप्रसाद ने समकालीन परिस्थितियों में औरत की स्थिति पर कई तरीके से बात उठाई है। अपनी कविताओं के जरिये वह यह बड़े दुःख के साथ अनुभव करता है कि अक्सर भारतीय घरों का दरवाजा खटखटाने पर एक सांवली, दुबली, मैली-कुचैली साड़ी में लिपटी औरत प्रकट होती है, जिससे उसका कोई हालचाल तक नहीं पूछता। वह तो सीलन और अंधेरे की अपठ्य पांडुलिपि भर है, तेल की तरह रसोई में खौलती हुई, तिल-चट्टों-सी घर में दुबकी हुई और पुरुष दम्भ से पोषित यह वाक्य पचाती हुई कि **"चाय पियें यह/उनकी बनाई है।"** स्त्री जब युवा होती है, तो भी उसकी आजादी पर प्रश्नचिह्न लगाते पिता/भाई के मर्यादित उपदेश उसे कचोटते हैं: **"अभी पिता तलब करेंगे/भाई चीखेंगे, औरत जात/इतना तेज, इतना ऊंचा/हंसा नहीं करती/घर तब तक आश्वस्त नहीं होगा, जब तक लड़कियां उतनी ही तेजी से रोने न लगेंगी।"** औरत की असमानता और अंधेरे में खोटे सिक्के की तरह खोए उसके भविष्य को यों तो अन्य बहुत-से कवियों ने टटोलने की चेष्टा की है, परन्तु देवीप्रसाद की कविता बिना आक्रोश का तेवर अपनाए मन को उद्वेलित कर जाती है। शब्दों में प्रकट 'विजुअल्स' पूरे दृश्य को इतना चाक्षुष बना देते हैं कि उनके लिए 'डिटेल्स' में जाने की जरूरत ही महसूस नहीं होती।

भाषा का विवाद इस देश में जब तब उठता रहता है। हिन्दी की हीनता और उसकी सामर्थ्य को लेकर बहसें शुरू होती हैं, लेकिन घूम-फिरकर अंग्रेजी की फिजां बरकरार रहती है। देवीप्रसाद की कविता हिन्दी के हीनताबोध पर सटीक अंगुली धरती है:

> **रोज अंग्रेज जीतता है/और हम अपनी हिन्दी के साथ**
> **पराजित होते हैं/किसी एक प्लासी में (पृष्ठ 101)**
> **कोई अंग्रेजी में बोलता है तो**
> **आप हिन्दी में अफसोस करते हैं कि**
> **आप भाषाहीन हैं। (पृष्ठ 102)**

देवीप्रसाद की कविता जनपक्षीय कविता है। मनुष्य जाति के प्रति अपनी जातीय समझ का इस्तेमाल इस कवि ने विलक्षणता के साथ किया है। मनुष्य के अस्तित्व की पहचान को रेखांकित करते हुए उसका यह कहना किसी दावे से कम मायने नहीं रखता कि "उसका होना इतना जरूरी होगा, जितना समय में भविष्य का होना।"

देवीप्रसाद के कविता रचने की पद्धति अपने समकालीनों से अलग है। उपमानों और प्रतीकों का भरपूर दोहन इस कवि ने किया है। उसकी कविताओं की सार्थकता सबसे ज्यादा

शायद इस बात में है कि उसके जरिये हम भारतीय संस्कृति को निकट से पहचान पाते हैं। कविता में सब कुछ शोभन ही नहीं होता। समाज के दु:ख-दर्द तक पहुंचने के लिए कवि को अपने औज़ारों को इतना धारदार बनाना होता है कि उससे सच के आवरण प्याज के छिलके की तरह उतर आते हैं। देवीप्रसाद ने कविता में सच को और जीवन के अंतर्विरोधों के प्रति विकसित होते विरोध को एक अभ्यस्त कवि की तरह प्रस्तुत किया है। कोई भी इन कविताओं के गवाक्ष से सहज ही देख सकता है कि—

भारत के कच्चे घर आगत महायुद्ध के करोड़ों शिविर हैं
कि हल और इतिहास की मूठ किसान के हाथ में है
कि ज़मीन को देखकर चलने का सलीका अब भी बचा है
कि बुलाने पर मुड़कर देखने की रस्म अब भी बाकी है। (पृष्ठ 126)

प्रार्थना के शिल्प में नहीं (कविता-संग्रह) : देवीप्रसाद मिश्र; लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, मूल्य : 45 रुपये।

रूसी काव्य चिन्तन का सर्जनात्मक दस्तावेज

□ महेश आलोक

एक भाषा के सृजनकर्म को दूसरी भाषा में पुनर्सृजित करना, निश्चित रूप से एक बहुत बड़ी चुनौती है। क्योंकि किसी भी देश की भाषा में उस देश की संस्कृति, परंपरा और जातीयता एक संस्कार के रूप में जीवित रहती है, जिससे उस देश का सांस्कृतिक और साहित्यिक अस्तित्व अर्थ पाता है। ऐसी स्थिति में भाषिक स्तर पर दो संस्कृतियों की टकराहट अनुवाद कार्य में बाधा उत्पन्न करती है। इस किस्म के अनुवाद का सकारात्मक पक्ष यह है कि इससे दो संस्कृतियां एक दूसरे के निकट आती हैं और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त होता है। इस तरह दृष्टि का विस्तार भी होता है। आज अनुवाद की अनिवार्य जरूरत को ध्यान में रखते हुए बार-बार यह सवाल उठाया जाता रहा है कि साहित्यिक कृतियों के अनुवाद को "कला या सृजन की कोटि" में रखा जा सकता है या नहीं। इस बहस में फिलहाल न भी पड़ें, फिर भी यह तो मानने पर विवश होना ही पड़ता है कि पुनर्सृजन का कार्य-मूलसृजन कर्म से कहीं-न-कहीं तो अवश्य जोखिम भरा कर्म है। इसलिए अगर इस जोखिम और चुनौती को ही मात्र ध्यान में रखें, तब भी 'कला की कोटि' में आने की शर्त तो कम-से-कम वह पूरी करता ही है। क्योंकि इस जोखिम में 'सृजनात्मक एरर' के बने रहने की संभावना अधिक रहती है। यह 'सृजनात्मक एरर' कम से कम हो, यानि मूल पाठ के अर्थ के निकट-से-निकट हम पहुंच सकें, मूल संवेदना की आहट को सुन सकें, उस साहित्य के कलात्मक और सौन्दर्यात्मक मूल्यों को पकड़ सकें, यही तो अनुवाद-कर्म की चुनौती और अनुवादक का जोखिम भरा रास्ता है, और इसका मूल्य उसे मिलना ही चाहिए, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

साहित्य से इतर अन्य अनुशासनों के अनुवाद वैज्ञानिक कोटि के अनुवाद क्षेत्र में आते हैं। उनका अपना एक निश्चित अनुवाद शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शब्द भंडार होता है। विशेष तथ्यों पर आधारित होने के कारण वहां मात्र शाब्दिक रूपान्तरण का कार्य एक खास तर्क पद्धति (जो उस शास्त्र की अपनी होती है) के अनुसार संपन्न कर दिया जाता है। खतरे वहां उत्पन्न होते हैं, जब अनुभूति या संवेदना का भाषिक रूपान्तरण किया जाए, और यह क्षेत्र साहित्य का है। इसलिए यह रास्ता तलवार की धार पर चलने का है। अतिरिक्त जोखिम, सजगता और ईमानदारी का है। इसी जोखिम, सजगता और ईमानदारी का परिचय पिछले पंद्रह वर्षों से **वरयाम सिंह** रूसी कविताओं के हिन्दी अनुवाद के माध्यम से देते रहे हैं। अनुवाद कर्म को उन्होंने सृजनात्मक स्तर पर चरितार्थ किया है। समीक्ष्य संग्रह "कविता विषयक रूसी कविताएँ (अनु० वरयाम सिंह)" संभवतः पहला ऐसा संकलन है जिसमें पूश्किन(1799-1837) से लेकर

अख्मादूलिना (1936) तक के ग्यारह रूसी कवियों की लगभग 75 ऐसी कविताओं के अनुवाद संग्रहीत हैं, जिसकी विषयवस्तु का संबंध पौराणिक आख्यानों में कला की देवी म्यूज, कविता, काव्य की रचना-प्रक्रिया के दौरान कवि की मनःस्थिति, कविता के उद्देश्य, कविता और पाठक के अन्तर्सम्बन्धों, विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में कविता की सौन्दर्यपरक और वैचारिक भूमिका, कविता की परिभाषा और काव्यभाषा से है (भूमिका से)। अक्सर देखा गया है कि जब रचनाकार कविता के बारे में अपनी समझ, राय या अपनी रचना-प्रक्रिया और काव्य-दर्शन-कविता के ही माध्यम से संप्रेषित करना चाहता है या करता है, तब कहीं न कहीं वह कविता की भाषिक शक्ति को खतरे में डालते हुए अपेक्षाकृत एक ताकतवर अनुशासन से टक्कर लेता है, उसे चुनौती देता है। एक बड़े रचनाकार की यह पहचान हुआ करती है। समीक्ष्य संग्रह की कविताएं इस समझ को और गहरा करती हैं।

संकलन में एक ओर पूश्किन, त्यूत्चेव, फ्येत और नेक्रासोव जैसे क्रांति पूर्व के चार महत्वपूर्ण कवि रखे गए हैं, तो वहीं क्रांति पूर्व के दो दशकों में जिन कवियों ने साहित्य जगत में जोर-शोर से प्रवेश किया, उनमें ब्लोक, अख्मातोवा, पास्तेर्नाक और त्स्वेतायेवा को शामिल किया गया है। इस दौर के सशक्त कवि मायकोव्स्की महज इसलिए संकलित नहीं किए गए हैं, क्योंकि उनकी क्रांति पूर्व की महत्वपूर्ण कविताएं पहले ही अनूदित होकर पाठकों से परिचय प्राप्त कर चुकी हैं। समाजवादी रूस में जिन कवियों की काव्यदृष्टि निर्मित हुई उनमें वरिष्ठतम पीढ़ी के मर्तोनोव और तर्कोव्स्की तथा नई पीढ़ी की अर्थात् छठे दशक में रूसी कविता में अपनी खास पहचान बनाने वाली कवयित्री अख्मादूलिना को शामिल कर संकलन को कविता के माध्यम से कविता विषयक मान्यताओं के क्रमिक विकास का सर्जनात्मक दस्तावेज बना दिया गया है।

संग्रह में संकलित प्रथम कवि पूश्किन (1799-1887) की प्रतिष्ठा रूसी साहित्य को परंपरागत जड़ता मुक्त कर 'आधुनिकता बोध' से 'लैस' करने की रही है। उनके काव्यचिन्तन के केन्द्र में 'स्वतंत्रता' जैसा बड़ा मानवीय मूल्य पूरी सर्जनात्मक आस्था के साथ सुरक्षित है, जो उन्हें निरंतर ऊर्जस्वित किए हुए है। यही कारण है कि पूश्किन 'विवेक' को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। विवेक वह 'दृष्टि' विकसित करता है जिससे रचनाकार अपना मूल्यांकन करने में स्वयं समर्थ हो सके। वे स्पष्ट कहते हैं—सर्वाधिक सख्ती से तुम्हीं हो समर्थ अपने श्रम का मूल्यांकन करने में (कवि से)। इसी 'रचनात्मक निर्ममता' ने पूश्किन के भीतर यह बोध जागृत किया, जिससे व 'उल्लासहीन घमंडी भीड़' और उसकी रुचियों के अनुसार कविता लिखने वाले कवियों के उपयोगितावादी दृष्टिकोण की नई साहसिकता से आलोचना कर सकें। ईश्वर के संसार को हर तरह से भरा पूरा और समृद्ध मानने, पवित्रता और 'स्वतंत्रता' को उसके भीतर, उसके संसार में पूरी ऐश्वर्यता से अन्तर्भुक्त मानने और कवि को देवदूत घोषित करने की तीव्र ललक उन्हें प्लेटो के 'आइडिया ऑफ गुड' वाले आदर्शवादी दर्शन के नजदीक खड़ा कर देती है। फर्क यही है कि जहां प्लेटो कवि को असामाजिक प्राणी घोषित करता है, वहां पूश्किन कवि को वह प्रतिष्ठा देते हैं, जो उसने 'दार्शनिक' को दिया था। कवि कर्म के हर स्तर पर इस तथ्य को प्रतिष्ठित करती ये कविताएं इस बात की साक्षी हैं कि किस प्रकार 'पूश्किन' स्वतंत्रता जैसे बड़े मानवीयमूल्य की पक्षधरता में आजीवन संघर्षरत रहे। वे इस सत्य से भली भांति परिचित थे कि इसी मूल्य से न जुड़ सकने के कारण लोगों में विवेकहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, लोग गुलाम हैं, सोचने समझने की शक्ति क्षीण हो गयी है। वे 'तात्कालिक उपयोगिता-

वाद' के हिमायती हो गए हैं, उनमें कलात्मक मूल्यों के प्राणसंचार का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। यह निष्कर्ष ग़लत है कि पूश्किन 'कला-कला के लिए सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं। उन्हें तो दैवी शक्ति ने पृथ्वी पर भेजा ही इसलिए है कि 'न्यायोचित समाज के निर्माण में वह परिवर्तनकामी शक्तियों का साथ दे सकें' (वरयाम सिंह—भूमिका से)। पूश्किन के ही शब्द उधार लेकर कहें तो कह सकते हैं कि यथार्थ के प्रति सच्ची निष्ठा, लोकतत्व की उपस्थिति और जातीय मौलिकता के बल पर उन्होंने रूसी कविता के मिजाज और तेवर को जिस रूप में ढाला, आडंबरहीन, प्रकृतिप्रदत्त सरल और सहज भाषा के सर्जनात्मक इस्तेमाल पर बल दिया—उसका प्रभाव आज भी किसी न किसी रूप में रूसी कविता में विद्यमान है।

फयोदेर त्यूत्चेव (1803-1873) के लिए कविता "वह दिव्य शक्ति है, जो आकाश से उतर आती है हम धरती पुत्रों के पास। आंखों में नभनील आभा लिए। उद्वेलित समुद्र में वह उड़ेलती है शान्तिप्रद द्रव (कविता)। इस 'सामंजस्यवादी नीति' के पीछे जो शक्ति कार्य कर रही है, उसका त्यूत्चेव की सृजनभूमि से गहरा सम्बन्ध है। उस शक्ति का चरित्र विचारों की सहभागिता से निर्मित न होकर, विचारों की स्वायत्तता और नैतिक यथार्थवाद के द्वन्द्व से निर्मित हुआ है। इस द्वन्द्व की अन्तिम परिणति रहस्य की उस 'अंधेरी गुफा' में ले जाती है जहां त्यूत्चेव खड़े हैं—"दिन का उजाला बिखेर डालेगा उन्हें। सुनते रहो उनके गीत और चुप रहो (चुप रहो)।" ऐसा लगता है जैसे 'आत्म स्थितिवाद' की पिनक में बने रहने की 'रचनात्मक ललक' ही त्यूत्चेव के काव्य सिद्धान्त की मूल चिन्ता है। यही कारण है कि उन्हें लगता है—'व्यक्त हो चुका विचार होता है झूठ'। निश्चित रूप से 'कला-कला के लिए सिद्धान्त' का यह अतिवादी रूप है। रूसी कविता के इतिहास में त्यूत्चेव को यदि इस रूप का जनक माना जाय, तो शायद ग़लत न होगा।

अफानासी फयेत (1820-1892) के काव्य दर्शन के केन्द्र में भी पूश्किन की तरह मूल प्रश्न 'स्वतंत्रता' का रहा है। कविता का मूल प्रस्फुटन कला की देवी की वाणी से निःसृत और ईश्वर प्रदत्त मानते हुए फयेत उसकी पवित्रता को बचाए रखने में कवि का सामर्थ्य मानते हैं। यही सामर्थ्य कवि को मौलिक चिन्तन की तरफ अग्रसर करता है और नए अनुभव संवेदनों से समृद्ध करता है। निश्चित रूप से यह दृष्टि सौन्दर्यात्मक श्रेणी के पृथक्करण की नीति अपनाती हुई एक खास किस्म के शुद्धतावादी एप्रोच में ही ताज़गी का अनुभव करती है। फयेत इसी किस्म के अनुभव पर बल देते हैं— "जहां निःस्वार्थ और बन्धन मुक्त होते हैं बाज और मुक्तिगीत (छद्म कवि से)।" भाषा के स्तर पर फयेत, पूश्किन और त्यूत्चेव दोनों से अधिक सर्जनात्मक तनाव विकसित करते हैं। इस तनाव में शब्दों की 'सहज ध्वनि' की वह पकड़ विद्यमान है, जिसे वे कवि के लिए आवश्यक मानते हैं। उपर्युक्त संपूर्ण क्रिया व्यापार 'कला-कला के लिए' और 'रूपवादी सौन्दर्यशास्त्र' की आदर्श स्थिति की तरफ संकेत करता है। फिर भी फयेत की काव्य भाषा आज भी नए रचनाकारों के लिए प्रेरक सिद्ध हो सकती है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

निकालोई नेक्रासोव (1821-1876) संभवतः पहले ऐसे कवि हैं, जिनकी कविता विषयक मान्यताएं—दिव्य ईश्वरीय लोक, म्यूज की अलौकिकता वाले नैतिक वातावरण के कुहासे से निकलकर यथार्थ की कठोर और उर्वर ज़मीन पर खड़ी है। नेक्रासोव के लिए कविता 'हिंसा और बुराइयों के अंधकार भरे अतल से परिचय कराते हुए' अपने कष्ट अनुभव करना

सिखाती है और संसार को उससे अवगत कराने का आशीर्वाद देती है। म्यूज़ और कविता की इस तरह की एकदम नयी, यथार्थपरक और जुझारू छवि रूसी साहित्य में संभवतः पहली बार रूप ग्रहण करती है।—वरयाम सिंह की यह टिप्पणी नेक्रासोव की कड़ियल और जुझारू संवेदना से निर्मित सौन्दर्यदृष्टि तथा गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता और अटूट जीवनधर्मिता के बल पर संभव किए गए साहित्यक अवदान को पूरी अर्थवत्ता से रेखांकित करती है।

अलेक्सान्द्र ब्लोक (1888-1921) की कविता भी संवेदनात्मक स्तर पर यथार्थ से साक्षात्कार की कविता है और उनके काव्य चिन्तन के केन्द्र में इसी साक्षात्कार की वैचारिक भूमिका गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता की बुनियादी शर्तों के साथ सुरक्षित है। इसी प्रतिबद्धता ने ब्लोक के सामने यह सत्य उद्घाटित किया था कि कविता—'यातनाओं के नरक से जन्म लेती है। उसमें सुख-सुविधाओं के प्रति तिरस्कार और पवित्र अनुदेशों के उलंघन की भावना" छिपी होती है। उसमें 'आग-सा धधकता है अनुराग' (कविता से), यह उपमामूलक बिम्ब 'प्रेम' के उस स्वरूप की तरफ संकेत करता है, जिसमें 'अटूट जीवनधर्मिता' है, समाज का शोषण करने वाली शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की सार्थक चेतना है और इसके द्वारा एक प्रेममय समाजवादी समाज की स्थापना की गहरी ललक है। यही अन्तर्निहित शक्ति कविता में 'आकर्षक ताकत' पैदा करती है। निश्चित रूप से ब्लोक की इन क्रान्तिपूर्व कविताओं में भावी रूसी समाज के गठन की रचनात्मक संभावनाएं सूत्र रूप में विद्यमान हैं।

अन्ना अख्मातोवा (1889-1966) की संकलित कविताएं इस बात की साक्षी हैं कि वे चिन्तन के स्तर पर कलावाद और यथार्थवाद—दोनों के सार्थक 'तत्वों' को अपनी रचना प्रक्रिया का अंग बनाना चाहती हैं। एक खास किस्म का उदारवाद उनकी निहायत कोमल संवेदना को जकड़े हुए है। इस किस्म के उदारवाद का अनिवार्य परिणाम यह है कि वह रचनाकार को त्रिशंकु-सा अधर में लटका देता है और वह रहस्यवादी हो जाता है। रचनाकर्म में यंत्रणा की स्थिति यहां भी होती है, लेकिन उसकी प्रकृति ब्लोक वाली यंत्रणा से अलग पहचानी जा सकती है। संभवतः अख्मातोवा रूसी कविता के इतिहास की प्रथम ऐसी रचनाकार हैं जो काव्य की नियति को 'पाठक' से जोड़कर 'संप्रेषण सिद्धांत' के मूल मसले से अप्रत्यक्षतः ही सही टकराती हैं। यह और बात है कि इसकी व्यापक चर्चा बहुत बाद में शुरू हुई।

बोरिस पास्तेर्नाक (1890-1960) सृजन का उद्देश्य 'किसी तरह की सफलता या सनसनी' फैलाना न मानकर 'आत्मसमर्पण' स्वीकार करते हैं। निश्चित रूप से यह कविता में 'चमत्कारवाद' के खिलाफ दी गई टिप्पणी है। लेकिन 'आत्मसमर्पण'—यह तो 'चमत्कारवाद' से और चार कदम नीचे की चीज़ है। क्योंकि इसमें सर्जनात्मक साहस की कमी या एक स्तर पर 'लुप्तता' का भाव द्योतित होने लगता है। पता नहीं इधर पास्तेर्नाक का ध्यान गया या नहीं। 'हर चीज के सार तत्त्व तक पहुंचने की संभावना'—सृजन का उद्देश्य 'आत्मसमर्पण' मानने में संभव ही नहीं है। लेकिन उनकी मंशा है कि वे उसके मर्म को पकड़ें। यह तभी संभव है जब तीक्ष्ण संवेदनशीलता के साथ-साथ रचनात्मक साहस भी रचना प्रक्रिया की यंत्रणा का अंग बन जाए। जिसका अभाव पास्तेर्नाक में विद्यमान है। यह अभाव ही उनमें रचना के हर स्तर पर नव्यता प्रदान करने की अदम्य इच्छा को जन्म देता है। चूंकि यह इच्छा भी सहज ढंग से विकसित न होकर गैप को भरने के लिए पैदा की गई है—इसलिए उनकी नव्यता भी 'रूपवादी चमत्कारवाद' का शिकार हो जाती है, जिसे वे सृजन का उद्देश्य नहीं मानते। यह अन्त-

विरोध ही पास्तेर्नाक के काव्य चिन्तन का मूल है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस अन्तर्विरोध से विकसित 'चमत्कारवाद' ने उनकी काव्यभाषा की सृजनात्मक क्षमता को बढ़ाया है और उसमें कलात्मक ऊंचाई पैदा की है 'भले ही 'कलात्मक गहराई' न दे पाई हो, जोकि संभव नहीं था।

मारीना त्स्वेतायेवा (1892-1941) की संकलित कविताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके काव्यचिन्तन के केन्द्र में 'आत्मदान' की भावना पूरी रचनात्मक अर्थवत्ता से सुरक्षित है। आत्मदान—हमेशा निःस्वार्थ होता है, जोकि ईमानदारी जैसे सार्थक मानवीय मूल्य को विकसित करने से पैदा होता है। मारीना जब कविता के संदर्भ में कहती हैं—"मौसम की मार खाए हाथों से / उसने दान किया / और भूल गई"—तब निश्चित रूप से आत्मदान की उसी सर्जनात्मक पीड़ा को व्यक्त कर रही होती हैं। कवि के सन्दर्भ में मारीना का विचार है—"बहुत दूर की बात छेड़ता है कवि/बहुत दूर की बात खींच ले आती है कवि को" और कवि—"काण्ट का भी खा डालता है दिमाग (कवि—1)।" यहां मारीना जहां यह स्थापित करती है कि कवि—अतल गह्वर से भी मोती निकालने की क्षमता रखता है, वहीं परम्परा के जीवन्त तत्त्वों से भी उसका गहरा जुड़ाव होता है, जिससे उसे ऊर्जा मिलती है। दार्शनिक तर्क पद्धति से अलग कवि भावनात्मक अन्तःसंगति के अलक्षित तर्कों के सहारे चलता है, जिसमें मिले हुए ताश के पत्ते की तरह की गड्मड्डता होती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उसमें आन्तरिक एक-सूत्रता नहीं होती, वह होती है पर दिखाई नहीं पड़ती। इसीलिए वह कहती हैं—"कवियों के ग्रहण का/पूर्वानुमान नहीं लगा सकता कोई पंचांग" और यही कारण है कि "कवियों का रास्ता पुच्छल तारों का रास्ता होता है, जलता हुआ···उद्विग्न, लेकिन संतुलित और शान्त"। मारीना की यह समझ उन्हें पास्तेर्नाक से बड़ा सिद्ध करती है। क्योंकि मारीना में कलात्मक गहराई है, जो हमें भीतर से झकझोरती है।

ल्योनीद मर्तीनोव (1905-1980) के काव्यचिन्तन के केन्द्र में सब कुछ कह डालने की ललक और अन्तःकरण की शुद्धता का बोध, गहरी सर्जनात्मक आस्था के साथ मौजूद है। आस-पास के परिवेश के गहरे दबाव से लिखने की अनिवार्य विवशता संवेदनात्मक स्तर पर महसूस करने वाले मर्तीनोव कला के बारे में अपनी मान्यता स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"जहां उसे अपनी आंतरिक शक्ति से परिपूर्ण निरंतर नवता की ओर अग्रसर तथा विधिता से संगठित होना चाहिए वहीं उसमें इतना साहस भी होना चाहिए कि उसकी टेन्डेन्सी सरल से सरलतर होने की हो—इतनी सहज, जितना कि सूर्य और इतना आसान जितने कि तारे (कला)।" मार्तीनोव की यह मांग एक लम्बी सर्जनात्मक साधना पर बल देती है। उनकी कविताएं बहुत हद तक इस साधना का बौद्धिक प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। वरयामसिंह के शब्दों में—"नए और युवा सोवियत समाज का आशावाद, विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मानव जीवन को बेहतर बनाने की भूमिका में विश्वास, काव्य में विचार और शब्द की सपाटता की सीमा तक की स्पष्टता, और अनुभव के नए-नए क्षेत्रों का उद्घाटन—मर्तीनोव की, कविता की विशेषता है।" और यही उनके काव्य चिन्तन की भी।

अर्सेनी तर्कोव्स्की (1907) के काव्य चिन्तन के केन्द्र में, जैसा कि वरयामसिंह ने भी स्थापित किया है—'आत्मसन्देह' के स्तर पर बने रहने की गहरी इच्छा—विचारात्मक बोध के साथ विद्यमान है। वस्तुतः 'आत्मसन्देह' व्यक्ति को अपनी चरम परिणति में 'सम्पूर्ण नकार' की

सहचारिणी *sah-cāriṇī* [S.], f. 1. = सहचरी. 2. a wife.

सहचारी *sah-cārī* [S.], m. = सहचर.

सहज *saha-j* [S.], adj. & m. born together: 1. adj. innate; natural, instinctive. 2. unforced, unaffected (manner). 3. easy, simple (as a task). 4. m. a full brother. 5. natural state or disposition. 6. E.H. the unqualified absolute (as perceivable intuitively in the heart); Brbh. the supreme being. — ~ ज्ञान, m. instinctive knowledge, instinct. ~ बुद्धि, f. id. ~ भाव से, adv. in an unforced, easy manner. ~ में, easily; by degrees, slowly; softly, in a low tone. ~ से, adv. id. ~ स्वभाव ही, adv. = ~ भाव से. – सहजानुभूति [°*ja*+*a*°], f. instinctive sympathy.

सहजन *sahjan* [*śobhāñjana(ka)*-], m. the horse-radish or 'drum-stick' tree, *Moringa pterygosperma* or *oleifera*.

सहजन्मा *sah-janmā* [S.], adj. inv. born together (as twins).

सहजात *sah-jāt* [S.], adj. 1. innate. 2. twin-born.

सहता *sahtā* [cf. H. *sahnā*], adj. 1. bearing, &c. 2. bearable. — ~ पानी, m. warm, hot (as opposed to very hot or boiling) water. ~ ~, adj. = ~, 2. सहते सहते, adv. patiently.

¹**सहन** *sahn* [S.], m. 1. patience; tolerance; forbearance. 2. endurance. — ~ करना, to endure, to tolerate, &c. – सहन-शक्ति, f. power of endurance, or of tolerance. सहनशील, adj. of patient disposition; patient; tolerant; forbearing. °ता, f.

²**सहन** *sahn* [A. *ṣaḥn*], m. 1. inner courtyard. 2. open area adjoining a house: court, drive. 3. *Pl. HŚS.* a kind of silk cloth.

³**सहन** *sahn* [cf. H. *sahnā*], f. see s.v. ¹रहन.

सहनक *sahnak* [P. *ṣaḥnak*], m. reg. a small dish or plate.

¹**सहना** *sahnā* [*sahate*], v.t. & v.i. 1. v.t. to endure; to tolerate; (w. रहना) to live out (one's days). 2. to suffer (as grief, loss). 3. to bear (a weight, strain). 4. v.i. to be borne, or tolerated, &c. 5. to be digested (as food). — सहता पानी, m. see s.v. सहता.

²**सहना** *sahnā*, m. = शहना.

सहनीय *sahnīyă* [S.], adj. endurable, tolerable.

सहपाठिनी *sah-pāṭhinī* [S.], f. fellow-student; class-fellow.

सहपाठी *sah-pāṭhī* [S.], m. fellow-student; class-fellow.

सहभागिता *sah-bhāgitā*, f. collaboration, &c. (= सहयोग).

सहभागी *sah-bhāgī* [S.], adj. & m. 1. adj. sharing. 2. m. partner; shareholder.

सहम *sahm* [P. *sahm*], m. fear. — सहमनाक [P. *-nāk*], adj. frightful, to be feared.

सहमत *sah-mat* [S.], adj. agreeing (with, से; about, में).

सहमति *sah-mati* [S.], f. agreement.

सहमना *sahamnā* [cf. P. *sahm*], v.i. to feel fear (of, से).

सहमरण *sah-maraṇ* [S.], m. dying together; a widow's burning herself with the corpse of her husband.

सहमाना *sahmānā* [cf. H. *sahamnā*], v.t. to frighten, to terrify.

सहयोग *sah-yog* [S.], m. cooperation; collaboration.

सहयोगी *sah-yogī* [S.], adj. cooperating; associated; cooperative (residence),

सहयोजित *sah-yojit* [S.], adj. co-opted.

सहर *sahr* [A. *saḥar*], m. f. the time just before dawn; dawn.

सहरना *saharnā*, v.t. 1. Brbh. = ¹सहना. 2. *Pl.* = सँवारना.

सहरा *sahrā* [A. *ṣaḥrā*], m. desert; wilderness.

सहराई *sahrāī* [P. *ṣaḥrāī*], adj. desert; wild.

सहरावन *sahrāvan* [cf. H. *sahlānā*], m. reg. = सहलाहट, 2.

¹**सहरी** *sahrī* [P. *saḥrī*], f. *musl.* food eaten before dawn (prior to a day's fast during the month of Ramaẓān).

²**सहरी** *sahrī* [*śaphara*-], f. Brbh. a small gold-coloured fish (see शफर).

सहरोस *sah-ros* [*saroṣa*- × H. *saha*-], adj. angry.

सहल *sahl* [A. *sahl*], adj. 1. easy, simple. 2. facile. — ~ करना, to make easy, to simplify.

सहलाना *sahlānā* [H. *sihrānā*], v.t. 1. to stroke, to caress. 2. to tickle: to titillate. 3. to harass, to tease.

सहलाहट *sahlāhaṭ* [cf. H. *sahlānā*], f. 1. stroking, caressing. 2. tickling; titillation.

सहवास *sah-vās* [S.], m. 1. co-residence. 2. sexual intercourse.

सहवासी *sah-vāsī* [S.], adj. & m. 1. adj. co-resident. 2. m. a co-resident; fellow-lodger.

सहवैया *sahvaiyā* [cf. H. *sahnā*], m. an endurer, or sufferer.

सहस- *sahas-* [*sahasra-*]. thousand: — सहसकर, m. Av. thousand-rayed: the sun. सहस-नयन, m. Av. thousand-eyed: title of the god Indra. सहसफनी, m. Brbh. *mythol.* thousand-hooded: title of the snake Śeṣa. सहसबाहु, m. Brbh. *mythol.* thousand-armed: title of Arjuna, a prince of the Haihayas; title of Śiva, and of Viṣṇu. सहसानन [°*sa* + *ā*°], m. Brbh. *mythol.* thousand-headed: title of the snake Śeṣa; title of Viṣṇu.

सहस् *sahas* [S.] m. strength, force, power.

सहसा *sahăsā* [S.] adv. **1.** suddenly. **2.** rashly, hastily.

सहस्र *sahasră* [S.], adj. & m. **1.** adj. a thousand. **2.** m. the amount of a thousand. e.g. एक ~ गाँव, m. pl. a thousand villages. — सहस्राक्ष [°*ra* + *ā*], adj. thousand-eyed: a title of Indra. सहस्रानन [°*ra* + *ā*°], adj. thousand-faced or -mouthed: a title of Viṣṇu, and of Śeṣnāg. सहस्रबाहु, adj. thousand-armed: a title of Śiva, Viṣṇu and the Haihaya prince, Arjun. सहस्रसीस, m. *mythol.* thousand-headed: a title of the snake Śeṣnāg. सहस्राब्दी [°*ra* + *a*°], f. a millenium. सहस्रार [°*ra* + *ā*°], m. thousand-spoked: = ब्रह्मरंध्र.

सहस्री *sahasrī* [S.] adj. & m. **1.** adj. having a thousand, or thousands; amounting to a thousand. **2.** m. a body of a thousand men. **3.** the commander or governor of a thousand.

सहाऊ *sahāū* [cf. H. *sahānā*], adj. bearable, endurable.

सहाना *sahānā* [cf. H. *sahnā*], v.t. to cause to bear or to endure, &c.

सहानुभूति *sahânu-bhūti* [S.], f. sympathy.

सहाय *sahāy* [S.], m., f. **1.** m. helper; rescuer; patron. **2.** usu. f. help, assistance; protection. — ~ करना (की), to help, &c.

सहायक *sahāyak* [S.], adj. & m. going with: **1.** adj. assisting, assistant. ~ संपादक, m. assistant editor. **2.** auxiliary (force, service); *gram.* auxiliary (verb); secondary (industry); supplementary (list, table; benefits). **3.** tributary (a river). **4.** m. an assistant; companion.

सहायता *sahāyătā* [S.], f. help, assistance; aid. — ~ करना (की), to help, &c. ~ देना (को), to give help, to lend aid (in, में).

सहायिका *sahāyikā* [S.], f. assistant.

सहायी *sahāyī* [? cf. H. *sahāy*], adj. = सहायक.

सहार *sahār* [cf. H. *sahār-*], f. reg. bearing, suffering; endurance. — ~ करना, to bear patiently.

सहार- *sahār-* [conn. *sahakāra-*[1]], v.t. Brbh. **1.** to bear, to endure. **2.** reg. to trail, to drag.

सहारा *sahārā* [*sahakāra-*[1]], m. **1.** support. **2.** dependence, reliance. **3.** encouragement. **4.** assistance, aid. — ~ देना (को), to support; to encourage; to give aid (to). ~ लगाना (का), id.; to support oneself (on or against); to rely (on). ~ लेना, to rely for support or help, &c. (on, का). सहारे से, adv. with the support (of, के); gently, softly.

सहालग *sahālag* [H. *sāhā* + H. *lagnā*], m. **1.** auspicious date for a marriage, a wedding day. **2.** auspicious period for marriages.

सहावट *sahāvaṭ* [cf. H. *sahnā*], f. reg. power of passive endurance.

सहावटी *sahāvṭī*, f. *Pl.* a door-lintel; door-frame (= *caukhaṭ*).

सहावल *sahāval*, m. *Pl. HŚS.* a plummet, or plumb-line (= *sāhul*).

सहिंजन *sahiñjan*, m. = सहिजन.

सहिजन *sahijan* [*śobhāñjana-*], m. the horse-radish tree, *Moringa pterygosperma.*

सहित *sahit* [S.], ppn. with or without के. **1.** accompanied (by); attended (by). **2.** along (with), together (with). — सद्भाव ~, adv. with greetings (inscription, or closing formula in a letter).

सहियारना *sahiyārnā*, v.t. *Pl.* = सँवारना.

सहिष्णु *sahiṣṇu* [S.], adj. patient, tolerant; forbearing.

सहिष्णुता *sahiṣṇutā* [S.], f. patience, tolerance; forbearance.

सही *sahī* [A. *ṣaḥīḥ*], adj. & f. **1.** adj. sound, right, correct; real, actual. **2.** *arith.* whole (a number w. following fraction). **3.** adv. (it is) quite right, or correct; really; exactly. **4.** very well, all right. **5.** f. colloq. confirmation, corroboration; signature. — ~ अर्थों, or मानों, में, adv. in the real sense (of a word), properly. ~ करना, to make right, to correct; to adjust; to cure; to determine; to verify; to sign, to attest (a document). ~ पड़ना, to prove to be correct. अब उसकी वही मरज़ी है तो यही ~, if he (God) now desires that (for us), we must accept it. आओ तो ~, come on then: come if you wish, or dare. खोलो तो ~, do open (the door: expressing either impatience, or reassurance). यह न ~ तो वह दूसरा आपको ख़ूब लगता है, if this one doesn't suit you the other does. वह बात ~ है, that is correct. – सही-सलामत, adj. safe and sound.

सहुआइन *sahuāin* [H. [1]*sāh* + *-ānī-*, *-inī-*], f. a merchant's or shopkeeper's wife.

सहूलत *sahūlat* [A. *suhūla*: P. *suhulat*], f. = सहूलियत.

सहूलियत *sahūliyat* [cf. H. *sahūlat*], f. smoothness: **1.** convenience, ease. **2.** good manners, ease of manner. — ~ सीखना, to learn how to behave. ~ से, adv. conveniently, without difficulty.

सहृदय *sa-hṛday* [S.], adj. having feelings, sensitive; kindly.

सहेजना *sahejnā*, v.t. **1.** to examine, to check (as belongings, or money). **2.** to hand over (sthg.) with instructions for its use or care. — आवाज़ ~, to choose (one's) words with care.

सहेजा *sahejā*, m. reg. rennet.

सहेट *saheṭ* [conn. *saṅketa-*: ? w. E.H. *-bheṁṭ*], m. Brbh. a meeting-place.

सहेत *sahet* [conn. H. *sahit*; ? × H. *samet*], adv. pronun. var. = सहित.

सहेतु *sa-hetu* [S.], adj. = सहेतुक.

सहेतुक *sa-hetuk* [S.], adj. **1.** having a cause or reason. **2.** having an object or purpose.

सहेली *sahelī* [cf. *sakhī-*], f. a woman's female friend.

सहोढ़ *sahoṛh* [**sahoḍha-*], m. *Pl.* *HŚS.* brought with (a wife): the son of a woman pregnant at the time of her marriage.

सहोदर *sahodar* [S.], adj. & m. **1.** adj. uterine; born of the same parents. **2.** m. a full brother.

सह्य *sahyă* [S.], adj. **1.** to be endured, &c. (see सहना). **2.** endurable; tolerable.

¹**साँक** *sāṁk* [*śaṅkā-*], f. *Pl.* fear, apprehension.

²**साँक** *sāṁk*, f. pronun. var. = शाख़.

¹**साँकर** *sāṁkar*, f. = साँकल.

²**साँकर** *sāṁkar* [*saṁkaṭa-*], adj. & f. **1.** adj. narrow, confining. **2.** oppressive. **3.** f. distress, trouble, straits. **4.** a narrow lane or passage.

साँकरी *sāṁkrī* [*śṛṅkhalā-*], f. **1.** a small chain. **2.** Brbh. restriction of vision (by dust).

साँकल *sāṁkal* [*śṛṅkhalā-*], f. **1.** a chain; specif. a door-chain. **2.** staple (of a lock on a door). **3.** reg. a women's ornament, necklet. **4.** a fetter; handcuff.

साँका *sāṁkā* [conn. *sāmagrya-*], m. reg. (W.) network of string or cord (as the stringing of a *cārpāī*).

सांकेतिक *sāṅketik* [S.], adj. **1.** symbolic, allusive. **2.** coded.

¹**साँखा** *sāṁkhā* [conn. *saṁkṣobha-*], m. Brbh. distress.

²**साँखा** *sāṁkhā* [*śaṅku-*¹ × *śākhā-*], m. reg. wooden axle (for a grindstone); wooden bushing for an axle.

सांखू *sāṅkhū* [**sākkhu-*], m. *Pl.* the *sāl* tree, *Shorea robusta.*

साँखौ *sāṁkhau* [*saṁkṣobha-*], m. Av. distress (cf. ¹साँखा).

सांख्य *sāṅkhyă* [S.], m. having to do with number or calculation: name of an Indian philosophical system.

सांख्यिकी *sāṅkhyikī* [S.], f. statistics.

सांख्यिकीय *sāṅkhyikīyă* [S.], adj. statistical.

सांग *sāṅg* [S.], adj. having all its members or parts: complete, entire. — सांगोपांग [°*ga* + *u*°], adj. having its major and minor members: complete, entire.

¹**साँग** *sāṁg* [H. *svāṁg*], m. **1.** imitation, disguise, &c. (= स्वाँग). **2.** a type of popular drama featuring singing, and dealing predominantly with legendary or fabulous subject-matter (as well as with some modern subjects).

²**साँग** *sāṁg* [? conn. *śaṅku-*¹ or *śārṅga-*], f. **1.** a short spear. **2.** reg. (W.) rod, pole; lever. **3.** *Pl.* *HŚS.* a borer for wells.

³**साँग** *sāṁg*, m. = साँगह.

साँगर *sāṁgar* [conn. *saṁgara-*] m. *Pl.* **1.** a pod of fruit of the *śamī* (acacia). **2.** a kind of bean.

साँगह *sāṁgah* [*saṁgraha-*], m. reg. (Bihar) **1.** a plough and its accessory equipment. **2.** building material.

¹**साँगी** *sāṁgī* [cf. H. ²*sāṁg*], f. Av. **1.** a spear, &c. **2.** *Pl.* prop for the shaft of a cart.

²**साँगी** *sāṁgī* [cf. H. ¹*sāṁg*], m. *Pl.* mimic, actor, player.

³**साँगी** *sāṁgī* [H. *sāṁvgī*], f. reg. netting fixed underneath the seat of a cart (see साँवगी).

सांगीत *sāṅgīt* [H. ¹*sāṁg* × H. *saṅgīt*], m. = ¹साँग, 2.

साँगुस *sāṁgus*, f. a skate-fish or ray.

साँघर *sāṁghar* [**saṁghara-*: Pa. *saṁghara-*], m. *Pl.* a wife's son by a former husband, stepson.

साँघरा- *sāṁgharā-* [cf. *saṁghaṭayati*], v.t. reg. (E.) to reconcile a cow to its newly born calf (by plastering it with sugar).

साँच *sāṁc*, m. truth (= सच). — ~ को आँच नहीं, truth does not feel fire: truth has nothing to fear.

¹**साँचा** *sāṁcā* [*sañcaka-*], m. **1.** a mould. **2.** form, outline. **3.** last (shoemaker's). **4.** a model, artist's or craftsman's mock-up. **5.** *Pl.* a cone (= शंकु). — **साँचे में ढला**, adj. the (very) image (of, के); perfectly made, shapely, beautiful. **साँचे में ढालना**, to cast in a mould, to form, to shape. **एक ही साँचे में ढले**, cast from one mould: identical, as like as two peas.

²**साँचा** *sāṁcā*, adj. = सच्चा.

साँची *sāṁcī* [cf. H. *sāṁcā*], m. page-size, format.

साँज *sāṁj*, f. pronun. var. = साँझ.

साँझ *sāṁjh* [*saṁdhyā-*], f. evening, twilight. — **साँझ-सवेरे**, adv. morning and evening.

साँझलो *sāṁjhlo* [cf. *saṁdhyā-*], m. reg. (W.) as much land as a pair of oxen can plough in one day.

साँझी *sāṁjhī*, f. **1.** designs traced out by women and girls on the floors of temples and houses (esp. in the dark half of the month Āśvin) with coloured powder, grain, flowers and leaves). **2.** songs sung by girls in praise of Rādhā. — ~ **खेल-**, Brbh. to trace *sāṁjhī* designs.

¹**साँट** *sāṁṭ* [cf. H. *sāṁ}ṭnā*], f. **1.** joining, sticking. **2.** contact. **3.** a liaison (with, से). **4.** plot. — **साँट-गाँठ**, f. combining, plotting: = ~, **4. साँट-बाँट**, f. id.

²**साँट** *sāṁṭ* [conn. **saṭṭ-*¹], f. a weal.

साँटना *sāṁṭnā* [conn. **saṁsthāti*: Pk. *saṁṭhāi*], v.t. **1.** to stick together, to join. **2.** to unite. **3.** to join, to splice (as rope). **4.** to attach (a person) to oneself, to win (one) over or away (from). — **साँटा**, m. reg. (Bihar) a graft.

साँट-मारी *sāṁṭ-mārī* [H. ²*sāṁṭā* + H. *mārnā*], f. reg. goading.

¹**साँटा** *sāṁṭā*, m. reg. (Bihar) see s.v. **साँटना**.

²**साँटा** *sāṁṭā* [conn. *saṭṭ-*¹], m. **1.** whip; stick, goad. **2.** a sugar-cane.

साँटि *sāṁṭi*, f. Brbh. = ¹साँट, 2.

साँठ *sāṁṭh*, f. = ¹साँट. — **साँठ-गाँठ**, f. = **साँट-गाँठ**.

साँठना *sāṁṭhnā* [**saṁsthāti*: Pk. *saṁṭhāi*], v.t. = साँटना.

साँठि *sāṁṭhi*, f. Av. = साँठी.

साँठी *sāṁṭhī* [*saṁstha-*], f. assets, capital.

साँड़ *sāṁṛ* [*sāṇḍa-*], m. **1.** a bull; specif. a wandering bull. **2.** a stallion. **3.** reg. a camel. **4.** colloq. a wild, independent fellow. — ~ **की तरह घूमना**, to wander at will.

साँड़नी *sāṁṛnī* [cf. H. *sāṁṛ*], f. reg. a female camel (for riding).

साँड़ा *sāṁṛā*, m. a species of sand-lizard (the fat of which yields a medicinal oil).

साँड़िया *sāṁṛiyā* [cf. H. *sāṁṛ*], m. reg. **1.** a young camel. **2.** *HŚS.* rider on a camel. **3.** *Pl.* a wheel used in lace-making.

सांत *sânt* [S.], adj. having an end: finite, limited.

सांत्वन *sāntvan* [S.], m. *Pl. HŚS.* **1.** conciliation, reconcilement. **2.** mild manner; appeasing.

सांत्वना *sāntvānā* [S.], f. consolation. — ~ **देना** (को), to console.

साँथरी *sāṁthrī* [*saṁstara-*], f. Av. a mat (= साथरी).

साँथल *sāṁthal* [cf. *sakthan-*], f. *Pl.* thigh.

साँद *sāṁd*, m. reg. (E.) = साँदा.

साँदा *sāṁdā* [*saṁdāya-*], m. reg. a hobble (used on a cow's legs at milking).

साँध *sāṁdh* [*saṁdhi-*], f. crack, crevice.

सांध्य *sāndhyā* [S.], adj. having to do with twilight or evening.

साँप *sāṁp* [*sarpa-*], m. **1.** a snake. **2.** fig. a malevolent person. — ~ **उतारना**, to treat a snake-bite successfully. ~ **कलेजे**, or **छाती**, **पर लोटना**, a snake to writhe in (one's) vitals: to be gnawed by jealousy or envy. ~ **कीलना**, to charm a snake. ~ **का काटा रस्सी से डारता है** (or **डरे**), one bitten by a snake fears a piece of rope: a burnt child dreads (even a thought of) the fire. ~ **सूँघ जाना** (को), euph. a snake to bite (one). **काला** ~, m. black snake: a villain. **दो-मुहाँ** ~, m. two-headed snake: a very dangerous person; an arrant villain.

साँपन *sāṁpan*, f. **1.** a female snake (= साँपिन). **2.** reg. (W.) blemish in a horse's coat (a downward-turning twist of hair, thought of as inauspicious). **3.** *Pl.* name of a complaint in which the hair falls out.

साँपा *sāṁpā*, m. pronun. var. = स्यापा.

साँपिन *sāṁpin* [cf. H. *sāṁp*], f. a female snake.

सांप्रतिक *sāmpratik* [S.], adj. & m. **1.** adj. of the present, current. **2.** contemporary. **3.** timely. **4.** m. a contemporary.

सांप्रदायिक *sāmpradāyik* [S.], adj. **1.** sectarian. **2.** communal.

सांप्रदायिकता *sāmpradāyikātā* [S.], f. **1.** sectarianism; bigotry. **2.** communalism.

सांबर *sāmbar* [*śambara-*], m. = ¹साँभर.

साँबर *sāṁbar* [*śambala-*, Pk. *sambala-*], m. Av. provisions for a journey.

¹**साँभर** *sāṁbhar* [conn. *śambara-*], m. a type of large antelope.

²**साँभर** *sāṁbhar* [*śākambharī-*], m. a type of rock salt obtained from Sambhar Lake in Rajasthan.

³**साँभर** *sāṁbhar*, m. a spiced (south Indian) lentil and vegetable curry.

साँय *sāṁy*, f. esp. redupl. **1.** sighing, whistling (of the wind). **2.** whizzing. **3.** rustling, rustle. **4.** creeping or tingling sensation. —.~ ~, f. id.

साँव *sāṁv* [*sāman-*], m. *Pl.* calm, tranquillity. — साँव-चीत [*citta-*], adj. with a calm mind.

साँवगी *sāṁvgī* [*sāmagrya-*], m. reg. (Bihar) the body-work (esp. seat and canopy) of a two-wheeled cart. — ~ गाड़ी, f. a two-wheeled cart.

साँवटा *sāṁvṭā*, adj. *Pl.* = साँवठा.

साँवठा *sāṁvṭhā* [? conn. *saṁstha-*], adj. *Pl.* **1.** collected. **2.** ready, finished; ready (to, को).

साँवला *sāṁvlā* [*śyāmalaka-*], adj. **1.** dark-complexioned. **2.** title of a lover or husband; specif. title of Kṛṣṇa. — साँवला-सलोना, adj. dark and savorous: attractive (a dark complexion).

साँवलापन *sāṁvlāpan* [cf. H. *sāṁvlā*], m. darkness of complexion. - उसके चेहरे का रंग कुछ ~ लिए हुए था, his complexion was quite dark.

साँवलिया *sāṁvāliyā* [cf. H. *sāṁvlā*], adj. & m. dimin. **1.** adj. = साँवला. **2.** m. a title of Kṛṣṇa.

साँवाँ *sāṁvāṁ* [*śyāmaka-*], m. a quick-growing millet, *Panicum frumentaceum*.

साँस *sāṁs* [*śvāsa-*], f. **1.** breathing; breath. **2.** a sigh. — ~ उखड़ना, to breathe convulsively, to struggle for breath. ~ का रोग, m. asthma. ~ खींचना, to draw a deep breath; to hold the breath; to feign death. ~ चढ़ना, to be short of breath; to gasp, to pant. ~ छोड़ना, to breathe out. ~ टूटना, = ~ उखड़ना. ~ फूँकना (मुँह में), to revive, to resuscitate. ~ फूलना, to be breathless. ~ भरना, to draw a deep breath; to heave a sigh; to gasp, to pant. ~ रहते, adv. until one's last breath. ~ रुकना, the breath to be stopped: to feel suffocated, choked; to be smothered. ~ रोककर, adv. with bated breath. ~ लेना, to draw breath, to take a rest or spell; to sigh. उलटी ~ लेना, to draw in the breath urgently, to gasp (as at death). ठंडी ~ भरना, or लेना, to heave a sad sigh. जब तक ~, तब तक आस, while there's life there's hope.

साँसत *sāṁsat* [ad. *śāsti-*: w. H. *sāṁsnā*], f. **1.** punishment; specif. bodily punishment; hard labour. **2.** pain; torment. **3.** suffering. — जान ~ में डालना, to cause dire distress or suffering (to, की). — साँसत-घर, m. segregated cell (in a prison).

सांसद *sāṁsad* [S.], m. a member of parliament (cf. संसद).

साँसना *sāṁsnā* [*śāsati*], v.t. *Pl. HŚS.* **1.** to rebuke. **2.** to punish. **3.** to cause distress (to)

सांसर्गिक *sāṃsargik* [S.], adj. contagious.

साँसा *sāṁsā* [*saṁśaya-*], m. **1.** doubt, anxiety; apprehension. **2.** fear.

सांसारिक *sāṃsārik* [S.], adj. having to do with this world: worldly; secular.

साँसिया *sāṁsiyā*, m. **1.** a tribe of Indian gypsies. **2.** a member of that tribe.

सांस्कृतिक *sāṁskṛtik* [S.], adj. cultural.

-सा *-sā*, adj. resembling, like: **1.** (w. most adjs.) rather, quite, -ish (moderate degree of a quality). एक अच्छी-सी किताब, a rather good book. एक बहुत अच्छी-सी किताब, a very good book. एक-से, adj. pl. much the same (as each other, or one another). नीला-सा पानी, bluish water. **2.** (chiefly w. adjs. of quantity, to indicate that an exact or particular amount is not intended.) उसने मुझे बहुत-सा रुपया दिया था, he gave me a lot of money. उसे थोड़ी-सी हिंदी आती है, he knows a little Hindi. एक छोटी-सी दुकान, a little shop. एक बड़ा-सा शेर, a big tiger. ज़रा-सा पानी, m. a little water. ज़रा-सी लड़की, f. a slip of a girl. बहुत-से बड़े पेड़, many big trees. **3.** (indicating a restricted number of possibilities or choices.) कोई-से तीन विषय, any three subjects (as of a syllabus). कौन-सा दिन है? what day is today? (of the week, month). **4.** (expressing likeness: w. nouns and pronouns, functioning then as a ppn.; also w. verbal forms.) बंदर दीवार पर नाच(-सा) उठा, the monkey started a kind of dance on the wall. मुझ-सा ग़रीब आदमी, a poor man like me. शेर का-सा दिल, a heart like a lion('s). शेर-सा दिल, a heart like a lion('s).

साइका *sāikā* [cf. *sāyaka-*: ad.], f. (?) *Pl.* a small arrow, dart; lightning; thunderbolt.

साइत *sāit* [A. *sā'at*], f. **1.** an hour. **2.** a moment; an auspicious or inauspicious moment. — साइत-सगुन, m. omens, auguries.

साइर *sāir*, m. see ¹ ² सायर.

साईं *sāīṁ* [*svāmin-*], m. **1.** master, lord. **2.** the lord: God. **3.** husband. **4.** (esp. voc.) a Muslim ascetic.

[1]साई *sāī* [*sāti-*[1]], f. winning, gaining: earnest-money, pledge. — ~ देना, to give an advance (on a contract). ~ बजाना, to perform (as singers) by previous arrangement.

[2]साई *sāī* [**sahāyikā-*], f. reg. (W.) a cross-timber or brace (in carpentry).

साईस *sāīs* [A. *sā'is*], m. **1.** a groom. **2.** one who hires out pack-horses.

साईसी *sāīsī* [P. *sā'isī*], f. the work or duties of a groom or horse-keeper.

साउज *sāuj* [**śvāpadya-*], adj. & m. Av. **1.** adj. wild, savage. **2.** m. a wild animal.

[1]साऊ *sāū* [Ind. *sāgū*], m. the sago palm; sago.

[2]साऊ *sāū* [*sādhu-*], adj. & m. E.H. **1.** adj. good, virtuous. **2.** m. one who is good or beneficent (cf. [1]साहु).

[1]साक *sāk* [ad. *śāka-*], m. = [1]शाक, साग.

[2]साक *sāk*, f. Brbh. = [1]साख.

साकल्य *sākalyă* [S.], m. totality, entirety.

साका *sākā* [*śākya-*], m. **1.** era, epoch. **2.** Av. the Śaka era. **3.** Av. time, moment (of death). **4.** poet. a heroic or epoch-making exploit. — ~ कर-, Brbh. Av. to perform an epoch-making exploit.

साकार *sâkār* [S.], adj. **1.** having form or shape; real, visible (not imaginary). **2.** incarnate.

साकिन *sākin* [A. *sākin*], adj. & m. U. at rest: **1.** adj. inhabiting, residing at. **2.** m. inhabitant, resident.

साक़ी *sāqī* [A. *sāqī*], m. **1.** cup-bearer. **2.** fig. loved one.

साक्ष *sâkṣ* [S.], adj. *Pl. HŚS.* having eyes. — साक्षीकरण, m. obtaining or providing an attestation (of sthg).

साक्षर *sâkṣar* [S.], adj. **1.** literate. **2.** formed of syllables or letters.

साक्षरता *sâkṣarătā* [S.], f. literacy.

साक्षात् *sâkṣāt* [S.], adv. & adj. & m. before the eyes: **1.** adv. in the sight or presence (of). **2.** visibly, manifestly. **3.** adj. visible, evident, veritable; incarnate. **4.** m. a (face-to-face) meeting. — साक्षात्कार, m. a meeting, interview. °ई, m. interviewee.

[1]साक्षी *sâkṣī* [S.], adj. & m. **1.** adj. observing, witnessing. **2.** testifying. **3.** m. an eye-witness. **4.** witness (in law). **5.** a spectator. — ~ करना, or बनाना, to make (one) a witness; to try (one) by ordeal.

[2]साक्षी *sâkṣī* [S. (**sākṣī-*)], f. witness's testimony, evidence. — ~ देना, to give evidence.

साक्षीकरण *sâkṣīkaraṇ* [S.], m. see s.v. साक्ष्य.

साक्ष्य *sâkṣyă* [S.], m. testimony, evidence. — साक्ष्यांकन [°*kṣya+a*°], m. attesting, attestation.

[1]साख *sākh* [**sākṣī-*, *sākṣya-*], f. m. **1.** credit, trust; credibility; standing. **2.** good name, reputation. **3.** *Pl. HŚS.* evidence (of a witness). **4.** Av. usefulness (for a partic. purpose). — ~ बनना (की), (a person) to be of good credit, &c.

[2]साख *sākh* [P. *śākh*; ? and ad. *śākhā-*], f. a branch, &c. (= शाखा, शाख़).

[1]साखा *sākhā* [cf. H. [2]*sākh*], m. reg. (W.) mill-post, shaft (for millstones).

[2]साखा *sākhā*, m. *Pl.* fight, quarrel.

[1]साखि *sākhi*, m. Brbh. Av. a witness (= [1]साखी).

[2]साखि *sākhi* [ad. *śākhya-*], m. Brbh. a tree.

[1]साखी *sākhī* [*sākṣin-*], m. a witness.

[2]साखी *sākhī* [**sākṣī-*], f. **1.** testimony, evidence. **2.** a rhyming verse (usu. a *dohā*) attesting to some aspect of ultimate truth as perceived by a *nirguṇī* (q.v.) devotee.

[3]साखी *sākhī* [? ad. *śākhin-*], m. ? f. Av. a tree (= [2]साखि)

साखू *sākhū* [**sākkhu-*], m. the teak tree.

साग *sāg* [ad. *śāka-*], m. greens, vegetable(s). — साग-पात, m. greens, different vegetables; fig. sthg. trivial or insignificant. साग-भाजी, f. = prec., 1. साग-सब्ज़ी, f. id. सागवाला, m. & adj. a greengrocer; seller of herbs; esp. adj. vegetarian.

साग-भत्ता *sāg-bhattā* [H. *sāg*+H. *bhāt*], m. *Pl. HŚS.* a stew of vegetables and rice.

सागर *sāgar* [S.], m. ocean, sea.

साग़र *sāġar* [P. *sāġar*], m. a cup (for wine), goblet.

सागू *sāgū* [Ind. *sagu*], m. the sago palm; sago.

सागून *sāgūn* [**sāgguvanya-*], m. = सागौन.

सागौती *sāgautī*, f. *Pl.* meat, butcher's meat.

सागौन *sāgaun* [**sāgguvanya-*], m. the teak tree; teak wood.

साज़ *sāz* [P. *sāz*], m. **1.** equipment; implements; apparatus (cf. [1]साज). **2.** arms. **3.** trimmings, decoration. **4.** harness. **5.** any musical instrument. **6.** -साज़. making, effecting: a maker; counterfeiter. — ~ छेड़ना, to strike up

a tune. – साज़-बाज़ [P. *-bāz*], m. = ~, 1.; preparation. साज़-संगीत, m. instrumental music. साज़-समारोह, m. music and festivity. साज़ो-सामान, m. = ~, 1.

¹साज *sāj* [*sajya-*, *sajjā-*], f. **1.** preparation. **2.** [× P. *sāz*] equipment, wherewithal, &c. (see साज़). — साज-सजावट, f. = next. साज-सज्जा, f. array, decoration; outward form or aspect (as of a book); outfitting, equipment (= ~, 2). साज-सामान, m. = ~, 2.; supplies, provisions. साज-सिंगार, m. dress, attire (of women).

²साज *sāj* [P. *sāj*], m. the teak tree.

साज- *sāj-*, v.t. & v.i. **1.** v.t. Brbh. Av. = सजाना. **2.** v.i. Av. = सजना.

साजन *sājan* [*sajjana-*²], m. **1.** lover. **2.** husband. **3.** lord: God. **4.** a good, kindly or noble man.

साज़िंदा *sāzindā* [P. *sāzanda*], m. a musician, instrumentalist; accompanist (of a dancer).

साज़िश *sāziś* [P. *sāziś*], f. a plot; conspiracy. — ~ करना, to conspire, &c.

साज़िशी *sāziśī* [P. *sāziśī*], adj. conspiring, colluding; fraudulent (as dealings, appearances).

साझा *sājhā* [*sāhāyya-*], m. & adj. **1.** m. partnership; association; sharing (in an activity). **2.** share (in produce; or in a company). **3.** adj. joint. — ~ करना, to enter into partnership; to form a company. ~ बाज़ार, m. the (European) Common Market. साझी मंडी, f. id. साझे में, adv. in partnership, jointly. – साझेदार [P. *-dār*], m. a partner, associate; a shareholder. °ई, f. partnership.

साझी *sājhī*, m. **1.** a partner, associate. **2.** a shareholder.

साट *sāṭ*, f. = ¹साँट.

साटक *sāṭak*, m. Brbh. sthg. worthless; husk; peel, rind.

साटन *sāṭan* [Engl. *satin*], f. satin.

साटना *sāṭnā*, v.t. = साँटना. सटाना.

¹साटा *sāṭā* [**saṭṭa-*¹: Pk. *saṭṭa-*], m. E.H. exchange; dealings.

²साटा *sāṭā* [cf. *saṭṭ-*¹], m. reg. (Bihar) a whip having several lashes (used for driving cattle).

साठ *sāṭh* [*ṣaṣṭi-*], adj. sixty.

साठा *sāṭhā* [cf. H. *sāṭh*], m. **1.** a man of sixty years. **2.** reg. (W.) term applied to a large field. — साठे पर पाठा, m. a young man of sixty: an old man acting the part of a young one. – साठा-पाठा, m. id.

साठी *sāṭhī* [*ṣaṣṭikā-*], f. name of a short-stemmed, red- or dark-coloured rice (ripens in some sixty days from sowing).

साड़ी *sāṛī* [*śāṭī-*], f. a sari.

साढ़साती *sāṛhsātī*, f. see s.v. साढ़े.

¹साढ़ी *sāṛhī* [**āṣāḍhīya-*], f. reg. grain sown in the month of Asāṛh, the spring crop or harvest.

²साढ़ी *sāṛhī*, f. reg. = साड़ी.

³साढ़ी *sāṛhī*, f. Brbh. clotted cream (= मलाई).

साढ़ू *sāṛhū* [**syā(līvo)ḍhṛ-*], m. wife's sister's husband.

साढ़े *sāṛhe* [*sārdha-*], adj. pl. (preceding numbers from three to ninety-nine) plus a half. — ~ तीन, adj. three and a half. ~ तीन सौ, adj. three hundred and fifty. ~ तीन हज़ार, adj. three thousand five hundred. ~ साती, f. a period of seven and a half years; malign influence of Saturn (extending through periods of seven and a half years, months or days); calamity; misfortune. – साढ़साती, f. Av. the planet Saturn; misfortune.

-सात् *-sāt*, suffix (forms adjectives expressing the result of transformation, e.g. धूलिसात्, turned to dust; आत्मसात्, assimilated completely to (one)self).

सात *sāt* [*sapta-*], adj. **1.** seven. **2.** fig. the total number (of any group). — ~ की नाक कटना, fig. a whole family or group to be disgraced (by one member's action). ~ परदों में रखना, to hide (a person) away completely. ~ भाई, m. pl. *Pl.* seven brothers: name of certain gregarious birds, specif. the jungle babbler, *Turdoides striatus*. ~ समुंदर पार, adv. beyond the seven seas, far across the world. – सात-पाँच, adj. & m., f. five or seven: several, a few; a number of persons; tricks, trickery. सात-पाँच करना (से. के साथ), to wrangle (with); to practise deceit (on); to make lame excuses (that do not tally); to be uncertain what to do. – सातों वचन, m. pl. the seven utterances: the marriage vows.

सातवीं *sātvīṁ* [cf. H. *sātvāṁ*], f. the seventh day of a lunar fortnight.

सातू *sātū*, m. = सत्तू.

सातूर *sātūr*, m. *Pl.* a large knife; a cleaver.

सात्तविक *sāttvik* [S.], adj. endowed with the quality *sattva*: **1.** true, genuine. **2.** honest, sincere. **3.** virtuous, excellent.

सात्त्विकता *sāttvikātā* [S.], f. genuineness, honesty, &c. (see सात्त्विक).

सात्विक *sātvik*, adj. corr. = सात्त्विक.

साथ *sāth* [*sārtha-*] m. & adv. **1.** m. company, society; sthg. accompanying. **2.** assistance.

3. adv. [*sārthena*], in the company (of, के), with, along (with). मेरे ~, adv. with me. ~ ~, adv. together. **4.** additional (to, के). **5.** adjoining. ~ ही, adv. along (with, के); at the same time; into the bargain; adjoining (as houses). **6.** ppn. w. के. together with, along with (= से). ख़ुशी के ~, gladly. **7.** ppn. w. के. together with, against (= से, which is more common). सब के ~ लड़ना ठीक नहीं, it is wrong to quarrel with everyone. साइकिल दीवार के ~ टिकाना, to rest (one's) bicycle against a wall. **8.** Brbh. with, by means of (= से). — ~ का खेला, m. a playmate. ~ का पढ़ा, m. a classmate. ~ छूटना (का), (one) to part (from, से). ~ देना (का), to give (one) company or assistance (in, में); to take part (in an activity); to take the part or side (of), to support. ~ में, adv. together, in company. ~ लग लेना, = ~ हो लेना. ~ लगा रहना, = next. ~ लगे फिरना (के), to be always following (one) about. ~ रहना, to keep or to stay together, to be close associates. ~ लेना, to take (a person or thing) with one. ~ होना, to be one of a group, to be associates; to take part (in). ~ हो लेना, to attach oneself (to a group or person), to accompany. ~ ही ~, adv. = ~ ही. एक ~, adv. in one group or company, all together.

साथर *sāthar*, m. = साथरौ.

साथरी *sāthrī*, f. *Pl.* a small mat of *kuśa* grass (cf. साथरौ).

साथरौ *sāthrau* [*srastara-*, *saṁstara-*], m. ? Brbh. a mat (as of *kuśa* grass); bedding.

साथिन *sāthin* [**sārthinī-*], f. **1.** female companion, or associate, or accomplice. **2.** female attendant.

साथी *sāthī* [**sārthin-*], m. **1.** companion; associate; ally; accomplice. **2.** attendant, follower.

साद *sād*, m. **1.** pronun. var. wish, longing, craving (= [1]साध). **2.** reg. (Raj.) sound (= शब्द).

सादगी *sādăgī* [P. *sādagī*], f. **1.** plainness, unadorned character. **2.** simplicity (of manner), unpretentiousness. **3.** frankness, sincerity.

सादर *sâdar* [S.], adj. paying respect, respectful.

सादरा *sādrā* [? cf. *śabda-*], m. *Pl.* a kind of song.

सादा *sādā* [P. *sāda*], adj. **1.** plain, unadorned. सादे लिबास में होना, to be simply dressed. **2.** white; blank (paper); unstamped (paper). **3.** smooth; even, regular. **4.** pure, unmixed; unseasoned. **5.** simple (of manner); not special; unpretentious. **6.** open, frank. — सादे रंग का, adj. of a single colour (as cloth). सादे सुभाव [H. *svabhāv*], adv. through artlessness of nature: unintentionally. – सादादिल, adj. simple-hearted: simple, unaffected. °ई, f.

सादापन *sādāpan* [cf. H. *sādā*], m. simplicity, &c.

सादृश्य *sādr̥śyă* [S.], m. resemblance, similarity; analogy.

सादृश्यता *sādr̥śyătā* [S.], f. similarity, comparability.

[1]**साध** *sādh* [*śraddhā-*], f. eager desire, longing; craving.

[2]**साध** *sādh* [cf. H. *sādhnā*], f. **1.** earnest effort. **2.** accomplishing, performing. **3.** [× *śraddhā-*] present sent by parents to a daughter towards the end of her pregnancy.

[3]**साध** *sādh* [ad. *sādhu-*], adj. & m. **1.** adj. Brbh. good, virtuous, excellent. **2.** m. a member of the Sādh community; an ascetic.

साधक *sādhak* [S.], adj. & m. effective, accomplishing: **1.** adj. adept, skilful. **2.** holy. **3.** m. a practiser, an adept. **4.** a devotee; an ascetic. **5.** a magician (= ओझा).

साधन *sādhan* [S.], m. **1.** the act of accomplishing, or achieving. **2.** an accomplishment, achievement. **3.** means; expedient. ~ और साध्य, m. means and end. **4.** appliance; pl. appliances, equipment. **5.** resource; pl. resources.

[1]**साधना** *sādhănā* [S.], f. **1.** accomplishment, achievement. **2.** means. **3.** devoted labour or striving (towards any end); adoration; entreaty; object of devotion.

[2]**साधना** *sādhnā* [*sādhnoti*], v.t. **1.** to accomplish; to achieve by work or devotion; to study, to learn (as an esoteric skill). हाथ ~, to acquire a skill of hand, or knack. **2.** to practise, to carry out. चुप ~, to keep silent. योग ~, to practise yoga. **3.** to gain the good will, compliance or obedience of; to win over, to conciliate (an opponent); to break in (a horse). **4.** to put in order or to rights: to adjust (as scales); to trim (a kite). **5.** to substantiate: to show, to prove; to settle, to fix, to determine (an intention, a meaning). **6.** to balance, to poise. शरीर ~, to balance (on, पर). **7.** to point, to aim (a firearm). **8.** to regulate. दम ~, to hold the breath. **9.** to show deep or long-standing devotion (to).

साधनी *sādhnī* [cf. H. [2]*sādhnā*], f. **1.** *Pl.* *HŚS.* a carpenter's level. **2.** reg. (Bihar) a square. **3.** *Pl.* a plumb-line. **4.** *Pl.* edging, border (as the setting for a stone in a ring).

साधनीय *sâdhănīyă* [S.], adj. **1.** to be accomplished, or achieved, &c. (see [2]साधना). **2.** to be proved.

साधारण *sādhāraṇ* [S.], adj. **1.** having the same basis: common, general; public. **2.** ordinary, usual, normal; average (of quality); plain (of features); common-place (as an event); trite (a remark). **3.** simple, plain (language). **4.** *gram.* simple (a form, a sentence); common (a noun). **5.** rudimentary (as education). — ~ बुद्धि, f. common sense. – साधारणतः, adv. usually; generally, on the whole. साधारणीकरण, m. giving general applicability (to): a generalisation.

साधारणतया *sādhāraṇtayā* [S.], adv. see s.v. साधारणता.

साधारणता *sādhāraṇătā* [S.], f. common or usual nature or quality: — साधारणतया, adv. usually; generally.

साधारणीकरण *sādhāraṇīkaraṇ* [S.], m. see s.v. साधारण.

साधित *sādhit* [S.], adj. **1.** achieved, accomplished. **2.** settled; paid off (a debt). **3.** substantiated, demonstrated. **4.** [× H. [2]*sādhnā*] fined, punished by fine.

साधु *sādhu* [S.], adj. & m. **1.** adj. righteous, virtuous; benevolent, good. **2.** pious, holy. **3.** ingenuous, guileless. **4.** Sanskritic, non-colloquial (language). **5.** m. a holy man, an ascetic. — साधुवाद, m. a voicing or expressing of approval; applause. साधु-संत, m. pl. holy men (see संत).

साधुता *sādhutā* [S.], f. **1.** righteousness, virtue; benevolence; honesty. **2.** piety, holiness.

साध्य *sādhyă* [S.], adj. & m. **1.** adj. feasible, attainable; easy. **2.** to be proved (as a theorem). **3.** curable (a disease). **4.** m. sthg. to be achieved: an end, goal. **5.** name of a class of minor deities.

साध्य *-sādhyă* [S.], adj. achievable by means (of), involving (e.g. कष्टसाध्य, adj. involving effort for completion).

साध्वी *sādhvī* [S.], adj. f. & f. **1.** adj. f. = साधु. **2.** f. a virtuous woman or wife.

सान *sān* [*śāṇa-*[2]], f. m. **1.** a grindstone. **2.** touchstone (= कसौटी). — ~ चढ़ाना, or धरना, or लगाना, to grind, to whet (a blade). ~ पर रखना, id.

सान *sān* [*sañjñā-*], f. **1.** sign; trace. **2.** hint. — सान-गुमान, m. = ~; notion, idea. सान-गुमान होना (को), (a person) to have the notion (that, कि).

सानना *sānnā* [*saṁdadhāti*, and *saṁnayati*], v.t. **1.** to mix in (with, में: as a substance with a liquid). **2.** to mix, to knead (as dough, earth, mash). **3.** to smear (with, में); to soil. **4.** to implicate (in).

[2]**सानना** *sānnā* [**śānayati*; *sānita-*], v.t. reg. to sharpen (a blade, on a stone).

[1]**सानी** *sānī* [cf. H. *sānnā*], f. water-soaked chaff mixed with grain, as fodder; mash. सानी-पानी, m. id.

[2]**सानी** *sānī* [A. *s̤ānī*], adj. & m. second: a match, an equal.

सानु *sānu* [S.], m. a mountain; crest, summit.

सानुकूल *sânukūl* [S.], adj. attended by favourable circumstances: favourable (a wind, a person).

सानुज *sânuj* [S.], adv. Av. along with (one's) younger brother.

सानुनासिक *sânunāsik* [S.], adj. pronounced with a nasal sound, nasal (a vowel or consonant); nasalised.

सान्निध्य *sānnidhyă* [ad. *sāṃnidhya-*], m. **1.** vicinity, proximity. **2.** presence, attendance. **3.** *philos.* beatific state in which the soul attends on God.

सापराध *sâpărādh* [S.], adj. offending, at fault; guilty.

सापा *sāpā*, m. = साँपा, स्यापा.

सापेक्ष *sâpekṣ* [S.], adj. **1.** relative; comparative, qualified. **2.** corr. = सापेक्ष्य. — सापेक्षवाद, m. relativity.

सापेक्षता *sâpekṣătā* [S.], f. relativity.

सापेक्षिक *sâpekṣik* [S.], adj. = सापेक्ष.

सापेक्ष्य *sâpekṣyă* [S.], adj. to be kept in view: necessary, desirable.

साप्ताहिक *sāptâhik* [S.], adj. weekly.

साफ़ *sāf* [A. *ṣāf*], adj. **1.** clear, fair (as sky); bright (light). **2.** clean. **3.** unadulterated. **4.** unobstructed (way). **5.** clear (voice). **6.** sincere, open (of manner); simple, innocent; clean (game). **7.** plain, clear (any matter); lucid (language, ideas); express, flat (a refusal); peremptory. **8.** correct, true (a statement, account); exact (a calculation); fair (a likeness). **9.** legible. **10.** blank (paper). **11.** flat, level. **12.** practised (hand). **13.** adv. clearly. **14.** completely. **15.** safely, unharmed; lightly. — ~ करना, to clean; to wash (clothes, a floor); to clear away (obstacles); to finish up or off, to dispose of (as of resources); to clean out (of funds), to beggar; to clear (a debt); to make a fair copy of, to practise (the hand); (esp. ~ कर जाना) to get away with, to steal; to make a clean sweep, to rifle (belongings). ~ छूटना, or निकल आना, to escape unscathed; to get clean

off (a charge). ~ निकल जाना, to get clean away; to get off scot-free. ~ रहना, to be clean, or clear, &c.; to go without food. ~ होना, to be clean, or cleaned, &c. (see ~ करना); fig. to be swept bare; to be devastated (as by epidemic). – साफ़दिल, adj. open-hearted; frank; guileless. साफ़-सफ़ेद, adj. clear and bright. साफ़-सुथरा, adj. clean, immaculate; neat (clothes); unblemished (character); untroubled (future).

साफल्य *sāphalyă* [S.], m. **1.** success. **2.** fruitfulness (as of an idea).

साफ़ा *sāfā*, m. a turban.

साफ़ा-पानी *sāfā-pānī* [H. *sāf*+H. *pānī*], f. colloq. cleaning or washing with water and soap, &c. — ~ करना, colloq. to clean or to wash (clothes, or one's person).

साफ़ी *sāfī* [P. *ṣāfī*], f, **1.** cloth, rag (used to strain liquids, esp. *bhāṁg*). **2.** kitchen cloth, or rag.

[1]**साबर** *sābar* [*śāmbara-*], m. leather of deer-hide, chamois leather.

[2]**साबर** *sābar* [*śambara-*], m. *Pl. HŚS.* a deer (= [1]साँभर).

[3]**साबर** *sābar* [ad. *śābara-*], m. Brbh. barbarous: a barbarian; ? an incantantion of Śaiva yogīs in Prākr̥t or Apabhraṃśa.

साबल *sābal* [*sarvalā-*, Pk. *sabbala-*], m. (?) Brbh. **1.** an iron crowbar or lever. **2.** *Pl.* a small anvil.

साबिक़ *sābiq* [A. *sābiq*], adj. Brbh. preceding, former (age, period). — साबिक़-दस्तूर, adj. U. according to custom, as usual (as a patient's condition).

साबक़ा *sābăqā* [A. *sābiqa*], m. long acquaintance: — ~ पड़ना, to become well acquainted (with, से); to have business or dealings (with).

साबित *sābit* [A. *ṣābit*], adj. **1.** established, confirmed; proved. **2.** sound, valid. — ~ करना, to establish, &c.; to prove; to substantiate.

साबुन *sābun* [A. *ṣābun*], m. soap. — ~ देना, or लगाना, to apply soap (to, में). – साबुनदानी [P. -*dānī*], f. soap-dish.

साबुत *sābut* [conn. H. *sābit*, *sabūt*], adj. corr. sound, undamaged; whole.

साबुनी *sābunī* [A. *ṣābunī*], adj. & f. **1.** adj. having to do with soap. **2.** f. *Pl. HŚS.* a kind of sweet (a mixture of almonds, honey and sesame oil).

सामंजस्य *sāmañjasyă* [S.], m. coordination, harmony.

सामंत *sāmant* [S.], m. **1.** feudatory prince, noble, leader, general. **2.** warrior, hero. — सामंत-काल, m. the feudal period. °ईन, adj. सामंतवाद, m. adherence to feudal atitudes, feudalism. सामंतशाही, f. rule through feudatories: the feudal system.

सामंती *sāmantī* [S.], adj. feudal.

सामंतीय *sāmantīyă* [S.], adj. feudal.

[1]**साम** *sām* [S.], m. a hymn: a partic. kind of sacred text or verse, intended to be chanted. — साम-वेद, m. name of one of the three principal Vedas (the verses of which are chanted). साम-दाम-दंड-भेद, m. incantation, bribery, threat and guile: the traditional means for a king to attain his purposes.

[2]**साम** *sām* [*śamba-*], m. **1.** a ferrule (on an axle, or a handle); bushing, bush. **2.** fig. E.H. a weapon.

सामक *sāmak* [ad. *śyāmaka-*], m. *Pl. HŚS.* a millet, *Panicum miliaceum* (= साँवाँ).

सामग्री *sāmagrī* [S.], f. collected materials, stock, implements, &c. (cf. सामान): 1. = सामान, 1.-3. 2. = सामान, 4.; specif. data, information (on a topic). **3.** Brbh. = माल, 10.

सामन *sāman*, m. pronun. var. = सावन.

सामना *sāmnā* [cf. *saṁmukha-*], m. **1.** confronting, encountering; meeting face to face. **2.** opposition, resistance. **3.** competition, rivalry. **4.** match, comparison. **5.** front, front part; frontage (of a house). — ~ करना (का), to confront; to oppose; to compete (with); to be compared (to); to show insolence or overbearingness (to).

सामने *sāmne* [cf. H. *sāmnā*], adv. **1.** before, facing, in front (of, के). **2.** opposite, facing. **3.** fig. matched (with), in comparison (with). – ~ आना, to appear (before one). ~ करना, to put, to place or to lay in front (of, के). ~ का, adj. confronting; frontal, direct (as an attack); opposite; having to do with one's presence or lifetime or age. ~ का मकान, m. the house opposite. ~ की बात, f. sthg. with which (one) is faced: sthg. done or said in (one's) presence, or during (one's) lifetime. ~ पड़ना, to appear; to transpire (knowledge of an event). ~ होना (के), to come or to stand forward: (a woman) to show her face (to a strange man); to confront, to defy. – आमने-सामने, adv. = ~, 1., 2.

सामयिक *sāmăyik* [S.], adj. **1.** having to do with time, or with a partic. time. **2.** timely, opportune. **3.** periodical. **4.** contemporary (= संसामयिक).

सामयिकता *sāmayikătā* [S.], f. timeliness.

सामरिक *sāmarik* [S.], adj. concerning battle: military.

सामर्थ *sāmarth*, m. f. = सामर्थ्य.

सामर्थी *sāmarthī* [cf. H. *sāmarth*], adj. *Pl. HŚS.* able, capable; strong.

सामर्थ्य *sāmarthyă* [S.], f. (m). adequacy: **1.** capacity, ability; competence. **2.** power, strength. **3.** fig. wealth, money. **4.** *gram.* the force or sense of a word. — उसकी यह ~ कहाँ थी ? by no means did he have the ability to do so.

सामाँ *sāmāṁ*, m. = सामान.

सामा *sāmā*, m. Brbh. = सामान.

सामाजिक *sāmājik* [S.], adj. **1.** having to do with society, social. **2.** (being) a member of an audience. — ~ सुरक्षा, f. social security.

सामान *sāmān* [P. *sāmān*], m. **1.** goods, things. **2.** possessions; luggage; a piece of luggage; furniture. **3.** equipment; utensils; tools. **4.** materials. **5.** *mil.* supplies. **6.** provisions, food. **7.** provision (for an occasion), necessary preparations. — ~ करना, to make provision (for, का), to arrange (for or to).

सामान्य *sāmānyă* [S.], adj. **1.** alike, equal (cf. समान). ***2.** shared by others: general, universal. ~ शिक्षा, f. general education. **3.** ordinary; normal, usual. **4.** commonplace; inferior, insignificant. **5.** *gram.* general, non-specific as to mode or time, simple (a conjugational pattern). ~ भूत-काल, m. the perfective (forms of a verb); ~ वर्तमान-काल, m. general present. — ~ तौर पर, adv. in the general way (of things). ~ लक्षण, m. a general feature or characteristic. – सामान्यीकरण, m. generalisation; a generalisation.

सामान्यीकरण *sāmānyīkaraṇ* [S.], m. see s.v. सामान्य.

सामान्यता *sāmānyătā* [S.], f. ordinary or normal state.

सामिष *sāmiṣ* [S.], adj. with meat: non-vegetarian.

[1]**सामी** *sāmī* [śamba-], f. a ferrule, &c. (= [2]साम).

[2]**सामी** *sāmī*, f. reg. (Bihar) a grass.

[3]**सामी** *sāmī*, m. pronun. var. reg. = स्वामी.

सामीप्य *sāmīpyă* [S.], m. **1.** vicinity, proximity. **2.** *philos.* beatific state of proximity of the soul to God.

सामुदायिक *sāmudāyik* [S.], adj. pertaining to a community.

सामुद्र *sāmudr* [S.], adj. & m. **1.** adj. having to do with the ocean: marine; maritime. **2.** m. *Pl. HŚS.* a seafarer; maritime trader. **3.** *Pl. HŚS.* sea salt. **4.** *Pl. HŚS.* cuttle-fish bone (= समुद्र-फेन).

[1]**सामुद्रिक** *sāmudrik* [S.], adj. = सामुद्र.

[2]**सामुद्रिक** *sāmudrik* [S.], m. the art of interpreting the marks (*mudrā*) of the body: palmistry, fortune-telling.

सामुद्रिकी *sāmudrikī* [cf. H. [2]*sāmudrik*], m. a fortune-teller.

सामुहें *sāmuheṁ* [cf. *sammukha-*], adv. reg. = सामने.

साम्य *sāmyă* [S.], m. **1.** sameness, similarity. **2.** equality, parity. **3.** harmony, concord. **4.** evenness, equability (of temperament). **5.** impartiality, indifference. — साम्यवाद, m. communism. °ई, adj. & m. communist. साम्यावस्था [°*mya*+*a*°], f. state of equilibrium.

साम्राज्य *sāmrājyă* [S.], m. empire. — साम्राज्यशाही, = next. साम्राज्यवाद, m. imperialism. °ई, adj. & m. imperialist.

साम्हना *sāmhnā*, adj. pronun. var. = सामना.

साम्हने *sāmhne*, adv. pronun. var. = सामने.

सायं *sāyaṃ* [S.], m. usu. सायं-. evening (= साय): — सायंकाल, m. evening; °ईन, adj. सायं-संध्या, f. evening; evening worship.

साय *sāy* [S.], m. end, close: close of day, evening (see सायं).

सायक *sāyak* [S.], m. an arrow.

[1]**सायत** *sāyat*, f. = साइत.

[2]**सायत** *sāyat*, adv. = शायद.

[1]**सायर** *sāyr* [*sāgara-*], m. Brbh. sea, ocean.

[2]**सायर** *sāyr* [A. *sā'ir*], adj. & m. *hist.* going: **1.** adj. contingent (expenditure). **2.** additional, supplementary (sources of income. **3.** m. *HŚS.* land the produce or profit of which is not taxed.

[1]**साया** *sāyā* [P. *sāya*], m. (f.) **1.** shade; shadow. **2.** shelter, protection. **3.** an apparition. **4.** influence (of an evil spirit: also fig.) — ~ डालना, to cast a shadow (on, पर); to take (one) under protection; to show favour (to); to influence (one). ~ पड़ना (पर), the shadow (of, का) to fall (upon); to come under the influence (of). ~ होना the influence (of, का) to be felt. साये में आना, to come under the shelter or protection (of, के); to come under the influence (of an evil spirit). साये से भागना, to flee the shadow (of, के), to shun. साये-तले आना (के), = साये में आना. – सायादार [P. *-dār*], adj. & m. shady; protective; a protector. सायाबान [P. *-bān*], m. canopy; sunshade; shed.

²**साया** *sāyā* [Pt. *saia*], m. petticoat, undershirt.

सायास *sāyās* [S.], adv. with effort, painstakingly.

सायुज्य *sāyujyă* [S.], m. *philos.* beatific state of communion of the soul with the divine being.

सारंग *sārang* [S.], adj. & m. **1.** dappled, spotted; coloured; gaudy. **2.** Brbh. attractive, charming (as speech, or eyes). **3.** m. a deer; specif. the spotted deer. **4.** *mus.* name of a *rāg*. **5.** designation of several birds and other creatures: the *cātak* bird; the koel (cuckoo); the peacock; a lion; a bee; a snake. **6.** Brbh. designation of several objects: a conch shell; a lotus; gold; a tank; camphor; a bow. **7.** a title of Śiva.

सारंगिया *sārangiyā* [cf. H. *sārang*], m. a player on the *sārangī*.

सारंगी *sārangī* [S.], f. a kind of violin.

¹**सार** *sār* [*sāra-*²], m. f. **1.** m. essence, substance, best or essential part; heart; core, marrow. **2.** sap. **3.** gist, sense; content. **4.** essential worth or value. **5.** name of a Hindi (Brajbhāṣā) metre containing twenty-eight mātrās to the line. — **6.** m. f. [f., H. *sār-* or ← G. or Panj.] Brbh. firmness, strength: help. – सार-गर्भित, adj. full of substance, substantial (a piece of writing, &c.); significant. सार-ग्राही, adj. extracting or understanding the essence or the best of sthg. °-ग्राहिणी, f. सार-भाटा, m. low water, low tide. सारभूत, adj. forming the essential, chief or best (thing or part). सारवान, substantial, significant (as an article, a contribution). सार-संग्रह, m. a digest. सारहीन, adj. insubstantial. सारांश [°*ra+a*°], m. essential part, or sense; an abstract, synopsis; summary. सारांश यह कि... the gist of the matter is....

²**सार** *sār* [*śālā-*], f. reg. a cowshed.

³**सार** *sār*, adj. formant. Brbh. = -सा.

⁴**सार** *sār* [*śāli-*], m. reg. (Bihar) a variety of transplanted rice.

सारक *sārak* [S.], adj. *Pl. HŚS.* laxative, purgative.

सारण *sāraṇ* [S.], m. purging.

सारणी *sāraṇī* [S.], f. a table, tabulation. — समय-सारणी, f. timetable.

सारथी *sārathī* [S.], m. **1.** charioteer. **2.** leader of a caravan or convoy of vehicles. **3.** name of a partic. Hindu community.

सारना *sārnā* [*sārayati*], v.t. **1.** to make an end of, to consume, to exhaust. **2.** to make, to achieve, to accomplish; complete, to perfect. **3.** सार-. Av. to set, to apply (as a *tilak*, or a saw).

सारबान *sārbān* [P. *sārbān*], m. a camel-driver. — मलिक और ~ अंतर, fig. a world of difference.

सारल्य *sāralyă* [S.], m. = सरलता.

सारस *sāras* [*sārasa-*], m. having to do with a lake or pond: **1.** the Sarus crane, *Grus antigone*. **2.** [? ad. *sārasa-*] Brbh. Av. a lotus.

सारस्वत *sārasvat* [S.], adj. **1.** adj. having to do with the goddess Sarasvatī, or with the legendary river Sarasvatī. **2.** belonging to the Sārasvat country (as a partic. class of brāhmaṇs). **3.** m. name of the region around the Sarasvatī river to the north-west of Delhi.

¹**सारा** *sārā* [*sāra-*²], adj. all, whole, entire. — ~ दिन, or सारे दिन, adv. all day long. सारे का ~, adj. the whole (of). बहुत ~, adj. = बहुत-सा.

²**सारा** *sārā* [? conn. *sārayati*], f. *Pl.* custom, usage.

³**सारा** *sārā*, m. **1.** reg. (Bihar) an axle. **2.** E.H. an arrow, shaft. **3.** [? *sāra-*²] reg. (Bihar) a funeral pile.

सारि *sāri* [*śāri-*²], f. Brbh. a piece (in chess, *causar*, &c.); Av. dice.

सारिका *sārikā* [S.], f. Brbh. **1.** a starling; mynah.

सारिखना *sārikhnā* [cf. H. *sārikhā*], v.t. & v.i. *Pl.* **1.** v.t. to see likeness, to compare (with), to liken. **2.** v.i. to resemble.

सारिखा *sārikhā* [conn. *sadṛkṣa-*], adj. & ppn. Brbh. Av. = सरीखा.

¹**सारी** *sari* [*śārikā-*], f. a mynah.

²**सारी** *sari*, f. reg. = साड़ी.

सारो *sāro* [*śāri-*², *śāra-*¹], m. Brbh. a starling; a mynah.

सार्थ *sārth* [S.], m. **1.** group of travellers. **2.** herd, flock.

सार्थक *sārthak* [S.], adj. **1.** having meaning, purpose; significant. **2.** effectual. **3.** profitable; fully realised (life in this world).

सार्थकता *sārthakătā* [S.], f. **1.** significance. **2.** use, purpose.

सार्वकालिक *sārvăkālik* [S.], adj. belonging to all times: everlasting; perennial.

सार्वजनिक *sārvăjanik* [S.], adj. pertaining to all people: **1.** public (as a meeting, an institution, a facility). **2.** general, widespread (as an opinion, an attitude); popular.

सार्वजनिकता *sārvăjanikătā* [S.], f. **1.** public character, openness (of procedure or attitude).

सार्वजनीन *sārvjanīn* [S.], adj. 1. = सार्वजनिक. **2.** universal.

सार्वत्रिक *sārvatrik* [S.], adj. found, or valid, everywhere; general, universal.

सार्वदेशिक *sārvădeśik* [S.], adj. applying to all countries; world-wide.

सार्वभौम *sārvăbhaum* [S.], adj. **1.** having to do with the whole world: universal, world-wide (as sway, power). **2.** *pol.* having to do with an entire territory; sovereign (a state); paramount (a power). — ~ सत्ता, m. sovereign power or right; paramountcy.

सार्वभौमिक *sārvăbhaumik* [S.], adj. **1.** = सार्वभौम, 1. **2.** sovereign, unrestricted (as a right).

सार्वभौमिकता *sārvăbhaumikătā* [S.], f. universality, universal currency or validity.

[1]**साल** *sāl* [P. *sāl*], m. a year. — ~ बसाल [P. *ba-*], adv. year by year, annually. ~ भर, adv. (for) a whole year; all the year round. दो ~ बाद, adv. two years later. दो ~ हुए, adv. two years ago. हर ~, adv. every year. – साल-गिरह, f. year-knot: anniversary, birthday. सालों-साल, adv. year by year, year after year.

[2]**साल** *sāl* [*śāla-*], m. **1.** the *sāl* tree, *Shorea robusta*, and its wood. **2.** the plane tree. **3.** a fish, *Ophiocephalus wrahl.*

[3]**साल** *sāl* [*śalya-*[1]], m. **1.** a thorn. **2.** fig. pain, affliction. **3.** transf. a hole; a mortice. — ~ पड़ना, a shooting pain to be felt.

[4]**साल** *sāl*, f. E.H. = शाला.

सालक *sālak* [cf. H. [3]*sāl*], adj. Brbh. Av. causing suffering or distress.

सालन *sālan* [**saṁlepana-* or **saṁlāpāna-*]. **1.** a meat curry. **2.** a seasoning, sauce.

सालना *sālnā* [*śalyayati*], v.t. & v.i. **1.** v.t. to pierce, to prick; to bore. **2.** to cause pain or suffering. **3.** v.i. to be pierced. **4.** to feel pain.

सालरा *sālrā*, m. *Pl.* green barley (used as fodder).

सालस *sālas* [S.], adj. languid.

सालसा *sālsā* [Pt. *salsaparrilha*], m. Indian sarsparilla, *Hemidesmus indicus* (= अनंत-मूल).

साला *sālā* [*syālaka-*], m. **1.** wife's brother, brother-in-law. **2.** transf. a term of abuse.

-साला *-sālā* [P. *sāla*], adj. formant, inv. ... years old (e.g. दुसाला, adj. inv of two years, biennial).

सालाना *sālānā* [P. *sālāna*], adj. inv. & m. **1.** adj. pertaining to a year, annual (as expenses, &c). **2.** occurring yearly, annual (a festival, &c.); made yearly (as a payment). **3.** m. a yearly payment; annuity (= वार्षिकी).

सालार *sālār* [P. *sālār*], m. advanced in years: leader, commander. — सालार-जंग, m. leader in war: general or commander-in-chief.

सालिग्राम *sāligrām*, m. = शालग्राम (s.v. [2]शाल)

सालियाना *sāliyānā*, adj. inv. = सालाना (the correct form).

सालिस *sālis* [A. *sālis*], m. E.H. third: a third (person), mediator, arbitrator.

[1]**साली** *sālī* [P. *sālī*], adj. annual.

[2]**साली** *sālī* [*syāla-*], f. wife's sister, sister-in-law.

सालू *sālū* [**sālu-*], m. a kind of fine red cloth.

सालोक्य *sālokyă* [S.], m. residence (of the liberated soul) in the same world or heaven as Kṛṣṇa: the first stage of beatitude.

सालोतरी *sālotrī* [ad. *śālihotra-*], m. a veterinary practitioner; farrier.

सावंत *sāvant* [*sāmanta-*], m. = सामंत.

सावंती *sāvantī* [cf. H. *sāvant*], f. bravery, valour.

सावकरन *sāvkarn* [cf. *śyāma-*; ad. *karṇa-*], adj. & m. reg. **1.** adj. having black ears. **2.** m. a black-eared animal; Av. a kind of horse.

सावकाश *sāvăkāś* [S.], adj. & m. **1.** adj. having leisure. **2.** adv. at (one's) leisure, or convenience. **3.** m. leisure. **4.** occasion, opportunity.

सावड़ *sāvaṛ* [**sāvakuṭī-*], f. *Pl.* room used for a birth, delivery-room.

सावधान *sāvădhān* [S.], adj. **1.** attentive. **2.** careful, cautious; prudent. — ~! interj. watch out! look out! ~ करना, to warn; to alert (one) (to); to take care, to be careful. ~ रहना, to be careful or mindful (of or about, से or के लिए); to beware (of, से).

सावधानता *sāvădhānătā* [S.], f. *Pl. HŚS.* = सावधानी.

सावधानी *sāvădhānī* [S.], f. **1.** attention. **2.** care, caution; prudence. — ~ से, adv. attentively; carefully, &c.

सावधि *sāvădhi* [S.], adj. having a fixed term or time (as a loan, a deposit).

सावन *sāvan* [*śrāvaṇa-*], m. **1.** name of the fifth month of the Hindu lunar calendar (July-August). **2.** a type of song sung in the month Sāvan (= कजली). — ~ का फोड़ा, m. a boil developing in Sāvan: sthg. that causes continuing distress. ~ की झड़ी, f. the constant showers of Sāvan. ~ हरे न भादों सूखे, neither green in Sāvan nor dry in Bhādoṁ: continuing unaffected by external changes. – सावन-भादों, m.

Sāvan and Bhādoṁ: the main part of the rainy season; sunshine and showers.

सांवनी *sāvānī* [cf. H. *sāvan*], adj. & f. **1.** adj. having to do with or typical of the month of Sāvan. **2.** f. the day of full moon in the month Sāvan. **3.** = सावन, 2. **4.** presents given by the relatives of a bridegroom-to-be to those of the fiancée in Sāvan; a ceremony called *sindhārā*; the ceremony of presenting a fiancée with the poles, ropes, &c. of a swing, in the month Sāvan; the parts of a swing as then presented. **5.** rice planted in Sāvan. **6.** tobacco sown in Sāvan.

सावयव *sâvāyav* [S.], adj. **1.** composed of parts or members. **2.** having all its parts, &c. (= सांग).

सावर *sāvar* [*śambara-* (via NIA *sāmar*)], m. Brbh. a deer.

सावर्ण्य *sāvarṇyă* [S.], m. **1.** identity of *varṇa* (q.v). **2.** identity or similarity of colour.

सावित्री *sāvitrī* [S.], f. **1.** name of a Vedic verse addressed to Savitṛ, the sun (= गायत्री, 2). **2.** *mythol.* a title or name of several figures: as of Umā the wife of Śiva; and of the wife of Satyavān.

साष्टांग *sāṣṭāṅg* [S.], adj. made with eight parts (of the body, viz. forehead, breast, shoulders, hands and feet: prostration of the body in greeting, or supplication). — ~ दंडवत्, m. id.

सास *sās* [*śvaśrū-*], f. mother-in-law.

सासत *sāsat*, f. reg. = साँसत.

सासरा *sāsrā* [*śvāśura-*], m. father-in-law's house.

सासु *sāsu*, f. = सास.

सास्ना *sāsnā*, m. *Pl. HŚS.* dewlap (of an ox).

[1]**साह** *sāh* [*sădhu-*], m. **1.** a merchant; shopkeeper. **2.** a banker. **3.** title of respect given to merchants, bankers, &c. **4.** an upright or honest man. ~ जी, m. id. — साह-ख़र्ची, f. extravagant expenditure.

[2]**साह** *sāh* [? *śākhā-*], m. *HŚS.* **1.** the side posts of a door. **2.** Bihar. an ornamental door-frame.

साहचर्य *sāhăcaryă* [S.], m. association, company (with another or others); companionship.

साहड़ *sāhaṛ* m. reg. (Bihar) a kind of plant.

साहपन *sāhpan* [cf. H. *sāh*], m. = साहूपन.

साहब *sāhab* [A. *ṣāḥib*], m. companion, associate: **1.** possessor, owner, master. **2.** a prominent person; esp. *hist.* a European; officer, official (as of a company). **3.** (hon. added to a name, or to a title) Mr; Sir. डाक्टर ~, m. doctor! (voc.); the doctor. **4.** voc. sir! **5.** (E.H.) God, the Lord. — ~ लोग, m. pl. the rulers: esp. *hist.* the British (in India); European people; (also) the Indian governing class. – ग्रंथ ~, m. The Book (sacred scripture of the Sikhs). साहबज़ादा [P. *-zāda*], m. sāhab's son, young gentleman. °-ज़ादी, f. young lady. साहब-बहादुर, m. *hist.* title or form of reference to a European official, or to an Indian receiving British patronage; a partic. rank conferred by the British. साहब-सलामत, f. formal salutation (on meeting).

साहबा *sāhabā* [A. *ṣāḥiba*], f. **1.** lady, dame. **2.** (hon. esp. voc., added to a name, or to a title.) Lady. – रानी ~, f. Your Highness, your Ladyship, good lady.

साहबाना *sāhabānā* [P. *ṣāḥibāna*], adj. inv. characterising prominent people (esp. *hist.* British people or Europeans).– ~ लिबास, m. European dress.

[1]**साहबी** *sāhabī* [P. *ṣāḥabī*], f. **1.** rule, dominance; influence. **2.** lordliness. — साहबी करना, to exercise dominance (over, पर); to lord it (over).

[2]**साहबी** *sāhabī* [cf. H. *sāhab*], adj. of or characterising prominent people; European (as manner, ways).

साहस *sāhas* [S.], m. **1.** boldness, courage; spirit, vigour. **2.** resoluteness. — ~ करना, to act bravely, &c. ~ करके, adv. bravely, &c. ~ छोड़ना, to lose courage, to grow faint-hearted. ~ दिलाना (को), to encourage. ~ बटोरना, to take one's courage in both hands, to muster one's courage. उसे ~ कहाँ था कि..., how could he dare to....

साहसिक *sāhăsik* [S.], adj. = साहसी.

साहसी *sāhăsī* [S.], adj. **1.** bold, brave; spirited. **2.** resolute.

साहा *sāhā* [? MIA or NIA *sāh-*, v.t. ← *sādhayati*], m. *hind.* astrologically auspicious time or date for a marriage.

साहाय्य *sāhāyyă* [S.], m. help, assistance.

साहि *sāhi*, m. Brbh. a king (= शाह).

साहित्य *sāhityă* [S.], m. association, combination: literary composition, literature. — साहित्यकार, m. writer, author. साहित्यज्ञ, m. one versed in literature. साहित्य-रत्न jewel of letters: title awarded to those passing the uppermost grade of a partic. examination in Hindi literature. साहित्यांग [°*ya+a*°], m. branch of literature, literary genre. साहित्यालोचन [°*ya+ā*°], m. literary criticism. साहित्येतर

[°ya+i°], adj. other than literature: non-literary (as a style, a genre).

साहित्यिक *sāhityik* [S.], adj. literary.

साहित्यिकता *sāhityikātā* [S.], f. literary quality.

साहिबा *sāhibā*, f. pronun. var. = साहबा.

¹**साहिल** *sāhil* [A. *sāhil*], m. shore, sea-shore; coast.

²**साहिल** *sāhil*, reg. (Bihar) a kind of rice, sown broadcast.

साहिली *sāhilī* [A. *sāhilī*], adj. & f. **1.** adj. coastal. **2.** f. a heron (? = काला बगला, the reef heron: *Egretta gularis*).

साही *sāhī* [*śvāvidh-*], m. a porcupine.

साहुल *sāhul* [A. *śāqūl*: P. *śāqul*], m. *Pl. HŚS.* a plummet, or plumb-line.

साहू *sāhū* [*sādhu-*]. = ¹साह. — साहूकार, m. id., 1.-3. °आ, m. colloq. banking; money-lending; the money-market; exchange. °ई, f. banking; business, commerce; money-lending; brokerage.

साहूपन *sāhūpan* [cf. H. *sāhū*], m. **1.** state or position of a banker or merchant. **2.** mercantile or commercial credit.

सिंकना *siṁknā* [cf. H. *seṁknā*], v.i. **1.** to be warmed or heated. **2.** to be roasted (as an ear of corn); to be cooked (as *capātī*). **3.** to be fomented (as a boil).

सिंगड़ा *siṁgṛā*, m. E.H. = सींगा, 2.

सिंगरौर *siṅgraur* [*śṛṅgaverapura-*], m. Av. name of a town on the bank of the Ganges, the site of a ferry.

सिंगा *siṅgā* [*śṛṅga-*], m. *mus.* a horn.

सिंगार *siṅgār* [*śṛṅgāra-*], m. **1.** dress, array; adornment. **2.** sexual love; sexual intercourse. — ~ करना, to dress or to adorn oneself (a woman); to dress up, to deck (a child, an idol). – सिंगारदान [P. *-dān*], toilet-case. सिंगार-पटार, m. adornment, toilet (of a woman). सिंगार-पटार करना, = ~ करना, 1. सिंगार-मेज़, f. dressing-table. सिंगार-हाट, f. red-light district. सिंगार-हार, m. Av. the weeping Nyctanthes (a partic. flower).

सिंगार- *siṁgār-* [cf. H. *siṅgār*], v.t. Brbh. = सिंगार करना.

सिंगारिया *siṅgāriyā* [cf. H. *siṅgār*], m. temple priest or sectarian responsible for dressing an idol.

सिंगारी *siṅgārī*, m. Brbh. = सिंगारिया.

सिंगाला *siṅgālā* [cf. H. *sīṁg*], adj. horned (cattle).

सिंगिया *siṅgiyā*, m. reg. pronun. var. a vegetable poison; (?) = संखिया.

सिंगी *siṅgī* [ad. *śṛṅgī-*], f. reg. a sheat-fish.

सिंगौटा *siṅgauṭā* [**śṛṅgapaṭṭa-*], m. ? a polishing tool made of horn (cf. सिंघौटा).

¹**सिंगौटी** *siṅgauṭī* [**śṛṅgavarta-*], f. reg. **1.** a small receptacle of horn. **2.** ? horns of dead cattle.

²**सिंगौटी** *siṅgauṭī* [**śṛṅgapaṭṭa-*], f. reg. a metal ornament for the horns of a bullock.

सिंघ *siṅgh* [ad. *siṃha-*], m. a lion, &c. (= सिंह).

सिंघल *siṅghal* [ad. *siṃhala-*], m. Av. the island of Ceylon, Sri Lanka. — सिंघल-दीप, m. id. °ई, adj.

सिंघाड़ा *siṁghāṛā* [*śṛṅgāṭaka-*, Pa. *sighāṭaka-*], m. **1.** the water-chestnut, *Trapa bispinosa*. **2.** a variety of *samosā*. **3.** fig. anything triangular (as a plot of land).

सिंघौटा *siṅghauṭā*, m. reg. Bihar. corr. see सिंगौटा.

सिंचन *siñcan* [S.], m. watering; irrigating.

सिंचना *siṁcnā* [cf. H. *sīṁcnā*], v.i. to be watered; to be irrigated.

सिंचाई *siṁcāī* [cf. H. *siṁcānā*], f. **1.** watering; irrigation. **2.** payment for irrigation, &c.

सिंचाना *siṁcānā* [cf. H. *sīṁcnā*], v.t. to cause to be watered, or irrigated (by, से).

सिंचित *siñcit* [S.], adj. watered; irrigated.

सिंदूर *sindūr* [*sindūra-¹*], m. red lead, vermilion (applied by married women to the hair-parting). ~ पहनना, to apply vermilion. ~ पोंछना, v.t. fig. to become a widow. माँग में ~ डालना, or देना, or भरना, fig. to marry (a woman, की). – सिंदूर-दान, m. ceremonial application of vermilion to the bride's parting by the bridegroom at marriage. °ई, f. vermilion-box. सिंदुर-बंदन, m. Brbh. = सिंदूरदान.

सिंदूरा *sindūrā* [*sindūra-¹*], m. a container for vermilion.

सिंदूरिया *sindūriyā* [cf. H. *sindūr*], adj. & m. **1.** adj. vermilion-coloured. **2.** m. a small, sweet-smelling, red-streaked mango.

¹**सिंदूरी** *sindūrī* [cf. H. *sindūr*], adj. vermilion-coloured.

²**सिंदूरी** *sindūrī* [S.], f. the tree *Mallotus philippinensis* (source of a dye, and of a drug).

सिंधारा *sindhārā*, m. *hind.* a present (of pastries, &c.) given by a bridegroom to his bride on the third day of both halves of the month Sāvan (cf. सावनी).

सिंध *sindh* [ad. *sindhu-*], m. Sind.

सिंधिया *siṁdhiyā* [conn. *saindhava-*], m. *hist.* name of a Marāṭhā tribe based in the 18th century in Gwalior and Madhya Pradesh.

सिंधी *sindhī* [cf. H. *sindh*], adj. of Sindh.

सिंधु *sindhu* [S.], m. **1.** sea, ocean. **2.** the river Indus. **3.** Sindh. — सिंधुज, adj. & m. ocean-born: of ocean, &c.; Brbh. rock-salt. °आ, f. Brbh. a title of Lakṣmī. सिंधुवार, m. = सँभालू.

सिंधुर *sindhur* [S.], m. Brbh. an elephant.

सिंह *siṃh* [S.], m. **1.** a lion. **2.** -सिंह. a hero; an eminent person. **3.** a title taken by Sikh men, and frequently by Rājpūt men. **4.** the sign Leo (of the zodiac). — सिंह-द्वार, m. lion-gate: chief entrace (as to a palace). सिंह-ध्वनि, f. = next. सिंह-नाद, m. lion's roar; battle-cry. सिंह-पौर, Brbh. m. = सिंह-द्वार. सिंहमुखी, adj. fig. wide at the front, tapering at the rear. सिंह-वाहिनी, f. who rides a lion: a title of Durgā. सिंहावलोकन [°*ha*+*a*°], m. lion's look, a look to the rear, and hence, around: a survey, review. सिंहासन [°*ha*+*ā*°], lion's seat: throne. °आरूढ़ [°*ha*+*ā*°], adj. ascended the throne: crowned; ruling. °आरोहण [°*na*+*ā*°], m. accession to the throne. °आसीन [°*na*+*ā*°], adj. seated on the throne: ruling. सिंहोदरी [°*ha*+*u*°], adj. Brbh. lion-waisted: a title of Durgā.

सिंहल *siṃhal* [S.], m. /siṅghəl/. Sri Lanka.

[1]**सिंहली** *siṃhālī* [cf. H. *siṃhal*], m. a Sinhalese.

[2]**सिंहली** *siṃhālī* [cf. H. *siṃhal*], f. the Sinhalese language.

सिंहिका *siṃhikā* [S.], f. Brbh. a demoness, daughter of Hiraṇyakaśipu and mother of Rāhu.

सिंहिनी *siṃhinī* [S.], f. /siṅghnī/. **1.** a lioness. **2.** title of, or form of reference to, a Sikh woman.

सिंही *siṃhī* [S.], f. /sinhī/, /siṅghī/. lioness.

सि- *si-* [P. *sih*]. three: — सिहद्दा, m. meeting-point of three boundaries.

सिकंदर *sikandar* [P. *sikandar*], m. Alexander the Great. — तक़दीर का ~, a man favoured by fate, or by destiny.

सिकंदरिया *sikandariyā* [A. *sikandarīya*], m. the city of Alexandria.

सिकटा *sikṭā*, m. reg. a broken piece of earthenware, potsherd.

सिकड़ना *sikaṛnā*, v.i. pronun. var. = सिकुड़ना.

सिकड़ी *sikṛī* [*śṛṅkhala-*], f. chain (as for a lock, or ornamental).

सिकता *siktā* [S.], f. **1.** sand; gravel. **2.** gall-stone.

सिकरी *sikrī*, f. reg. = सिकली, 1., and सिकड़ी.

[1]**सिकली** *siklī* [*śṛṅkhala-*], f. **1.** a chain (ornamental, or as used with a padlock). **2.** the staple used in padlocking a door.

[2]**सिकली** *siklī* [cf. A. *ṣaiqal*], f. Brbh. Av. polishing, grinding (of arms, or a mirror). — सिकलीगढ़, m. corr. = next. सिकलीगर [P. *-gar*], m. polisher, cleaner, grinder.

सिकहर *sik'har* [**śikyadhara-*], m. three or more cords tied together to form a network (for hanging pots, &c.); a rope-sling.

सिकुड़ण *sikuṛaṇ* [cf. H. *sikuṛnā*], f. **1.** drawing together, contraction; shrinking (of cloth). **2.** shrivelling; wrinkling. **3.** a wrinkle; gather, pucker.

सिकुड़ना *sikuṛnā* [cf. H. *sikoṛnā*], v.i. **1.** to draw in or together, to become of smaller size; to shrink (cloth). **2.** [× **sikka-*] to shrivel; to wrinkle. **3.** to be gathered or swept up together; to be squeezed in together (as passengers, &c.); to be bunched up. **4.** to suffer encroachment (as moonlight from cloud).

सिकोड़ *sikoṛ* [cf. H. *sikoṛnā*], f. drawing in or together, &c. (see सिकोड़ना).

सिकोड़ना *sikoṛnā* [**saṁkoṭayati*: Pk. *saṁkoḍiyā-*; ? × **sikka-*], v.t. **1.** to draw in or together; to contract. **2.** to squeeze or press in or together; to purse or to twist (the lips). **3.** to draw tight (as a brace). **4.** to wrinkle up (as the face or brow); to crumple up (paper, &c).

सिक्का *sikkā* [P. *sikka*], m. & adj. **1.** m. a stamp; a coining-die. **2.** impression on a coin. **3.** a coin; a rupee; currency. **4.** adj. minted: current (coin). — ~ चलाना, to introduce a new coin, or currency; = ~ बिठाना. ~ जमाना, id. ~ बनाना, or मारना, to mint coin, money. ~ बिठाना (अपना), to introduce (one's) coin: to establish (one's) rule, or authority. काग़ज़ी ~, m. paper money.

सिक्ख *sikkh* = सिख.

सिक्त *sikt* [S.], adj. watered; irrigated.

सिक्थ *sikthā* [S.], m. *Pl. HŚS.* boiled rice.

सिख *sikh* [ad. *śiṣya-*; ← Panj. *sikkh*], m. disciple, pupil; specif. a follower of Gurū Nānak, a Sikh.